वर्ष : 43
अंक : 3

जुलाई - सितंबर 2022

मूल्य 200 रुपए
ISSN 2582-4481

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

नीति निदेशक तत्व विशेषांक

प्रभात प्रकाशन

नवनूतन प्रकाशन की गौरवशाली परंपरा

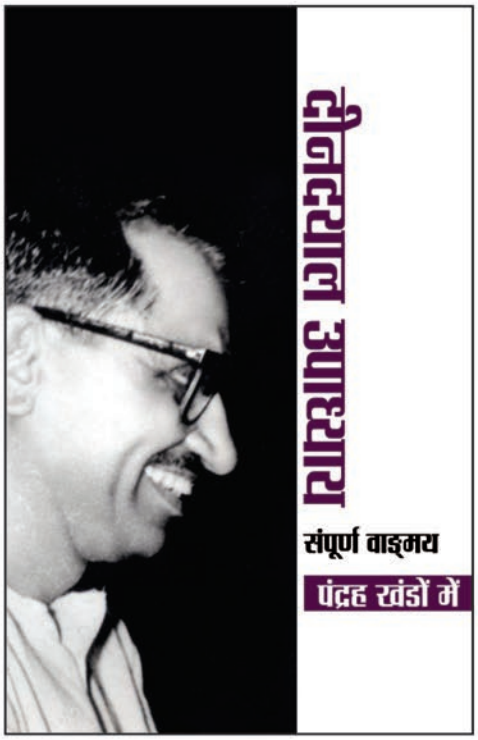

दीनदयाल उपाध्याय

संपूर्ण वाङ्मय (पंद्रह खंडों का सैट)

9 अक्तूबर, 2016 को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर डॉ. महेश चंद्र शर्मा द्वारा संपादित एवं प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के पंद्रह खंडों का लोकार्पण भारत के प्रधानमंत्री मान. श्री नरेंद्र मोदी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह मान. श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी व भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष मान. श्री अमित शाह के करकमलों द्वारा संपन्न हुआ।

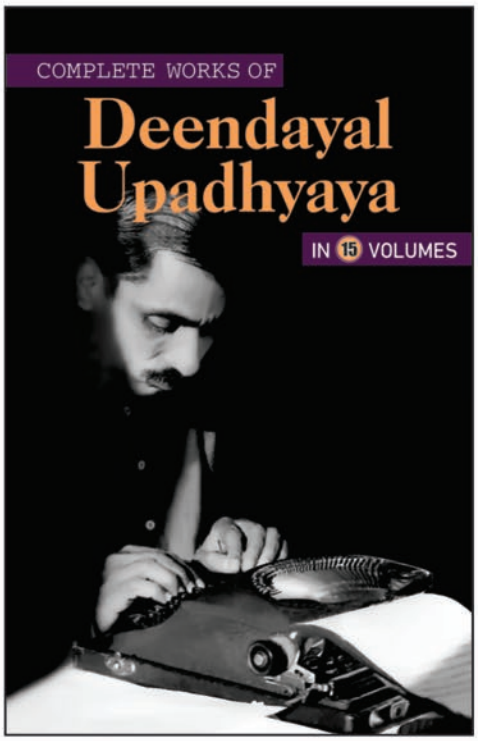

COMPLETE WORKS OF DEENDAYAL UPADHYAYA

(Set of 15 Volumes)

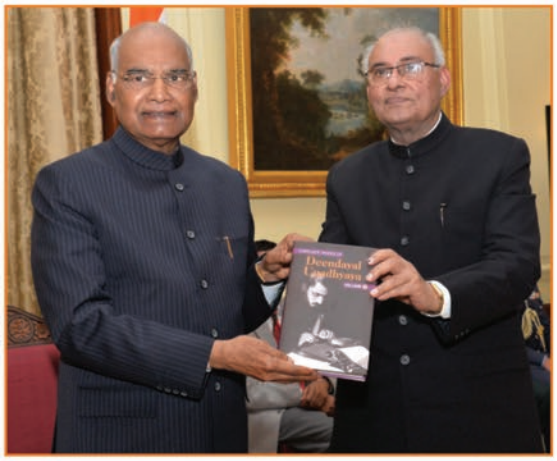

11 फरवरी, 2019 को भारत के राष्ट्रपति मान. श्री राम नाथ कोविंदजी को 'Complete Works of Deendayal Upadhyaya' की प्रथम प्रति भेंट करते हुए प्रधान संपादक डॉ. महेश चंद्र शर्मा

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001:2015 प्रकाशक
4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
हेल्पलाइन नं. 7827007777 ☎ 011-23289777
E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✤ Website : www.prabhatbooks.com

एकात्म मानवदर्शन
अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002
☎ 011-23210074
इ-मेल : ekatmrdfih@gmail.com

₹ 200/-

संपादक मंडल
श्री रामबहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
डॉ. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष : 43, अंक : 3 जुलाई–सितंबर 2022

नीति निदेशक तत्व विशेषांक

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
+91–9868550000
me.arvindsingh@manthandigital.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitin_panwar@yahoo.in

मुद्रण
ओसियन ट्रेडिंग को.
132, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली–110092

प्रकाशक
एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002
दूरभाष : 011–23210074; ईमेलः info@manthandigital.com
Website: www.manthandigital.com

अनुक्रम

1.	लेखकों का परिचय		03
2.	संपादकीय		04
3.	संविधान का मर्म : उद्देशिका, मूल अधिकार एवं नीति निदेशक तत्व	रामबहादुर राय	06
4.	नीति निदेशक तत्वों में गांधीवादी दृष्टि : एक अनुशीलन	दीपंकर श्री ज्ञान डॉ. वेदाभ्यास कुंडू मानसी शर्मा	11
5.	निदेशक तत्व एवं स्त्री सशक्तीकरण : एक समानांतर विमर्श	डॉ. ज्योति किरण शुक्ला	17
6.	नि:शुल्क कानूनी सहायता : निदेशक तत्व से राज्य की कार्रवाई तक	डॉ. राजेंद्र कुमार पाण्डेय	23
7.	भारतीय संविधान और श्रम सुधार	साजी नारायणन सी. के.	30
8.	समान नागरिक संहिता : हमारा रवैया गंभीर नहीं	डॉ. के. एम. बहरुल इस्लाम	41
9.	समान नागरिक संहिता : लैंगिक न्याय तथा समाज कल्याण के लिए वरदान	सुबुही खान	46
10.	नीति निदेशक तत्व और सामाजिक न्याय	डॉ. ओ. पी. शुक्ला	50
11.	पोषक आहार एवं जीवन स्तर	डॉ. राजेश कोटेचा वैद्य	59
12.	अनुच्छेद 48 पर गहन चिंतन	आलोक कुमार	63
13.	धरोहरों के संरक्षण का संवैधानिक अधिदेश	प्रो. भगवती प्रकाश	67
14.	सनातन सिद्धांतों के आलोक में नीति निदेशक तत्व : एक अनुशीलन	डॉ. विश्वेश वाग्मी	70

आनुषंगिक आलेख

1.	समान नागरिक संहिता और वैयक्तिक विधि		38

लेखकों का परिचय

रामबहादुर राय पद्मश्री से सम्मानित। हिंदुस्तान समाचार के समूह संपादक और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के अध्यक्ष। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के साथ आपातकाल विरोधी आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई।
संपर्क : rbrai118@gmail.com

दीपंकर श्री ज्ञान गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति के पूर्व निदेशक हैं। वे झारखंड प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रहे हैं। पेशे से वे वकील हैं तथा ग्रामीण विकासा एवं संबद्ध क्षेत्रों में उनका पर्याप्त कार्य है। संपर्क : divyagyan123@gmail.com

डॉ. वेदाभ्यास कुंडू गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति के कार्यक्रम अधिकारी हैं। उन्होंने अहिंसक संचार पर, शांति एवं संघर्षों के समाधान के साथ-साथ मीडिया एवं सूचना साक्षरता पर भी बहुविध कार्य किया है। उनके कार्यों में राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर के शोधकार्य तथा लेखन शामिल हैं। उन्होंने इन विषयों पर कई विश्वविद्यालयों में व्याख्यान भी दिए हैं। वे इन विषयों पर न्यायिक अधिकारियों, लोकसेवकों, शिक्षकों, पुलिस अधिकारियों एवं युवाओं के लिए कार्यशालाएँ भी आयोजित करते हैं।
संपर्क : vedabhyaskundu.ahimsa@gmail.com

मानसी शर्मा अधिवक्ता हैं। उन्होंने अहिंसा के न्यायदर्शन तथा मध्यस्थता की गांधीवादी दृष्टि पर निरंतर कार्य किया है। उनका नवीनतम शोध मध्यस्थता में अहिंसक संचार पर है।
संपर्क : mansi.sharma2588@gmail.com

डॉ. ज्योति किरण शुक्ला एक अर्थशास्त्री, शिक्षाविद, स्तंभकार, शोधकर्त्री एवं लेखिका हैं। वे राजस्थान के वित्त आयोग की पूर्व अध्यक्ष हैं।

डॉ. राजेंद्र कुमार पाण्डेय चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ में राजनीति विज्ञान के आचार्य हैं। वे साथ पुस्तकों के अलावा चार दर्जन शोधपत्रों के लेखक/सह लेखक हैं।

साजी नारायणन सी. के. पेशे से वकील हैं। वे त्रिचुर बार एसोसिएशन, केरल के अध्यक्ष रहे हैं। उन्होंने राष्ट्रीय न्यायिक अकादमी, भोपाल में एक स्रोत व्यक्ति के रूप में कार्य किया है। श्री नारायणन लंबे समय तक भारतीय मजदूर संघ से जुड़े रहे हैं। वे आईएलओ तथा अंतरराष्ट्रीय मामलों के प्रभारी रहे हैं। वे प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा नियुक्त दूसरे राष्ट्रीय श्रम आयोग के सदस्य रहे हैं। उन्होंने श्रम कानूनों, परिवार न्यायालय, विवाह, तलाक, भूमि सुधार, सिविल प्रक्रिया संहिता आदि विषयों पर 15 से अधिक पुस्तकों का लेखन किया है।

प्रो. के.एम. बहरुल इस्लाम भारतीय प्रबंध संस्थान, काशीपुर में लोकनीति और सरकार केंद्र के अध्यक्ष हैं। वे लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में अतिथि आचार्य रहे हैं। उन्होंने आईआईएम काशीपुर में अधिष्ठाता के रूप में भी कार्य किया है। इसके पहले वे एशिया और अफ्रीका के कई विश्वविद्यालयों में पढ़ा चुके हैं। यूनेस्को, यूनेका तथा यूनेस्कैप के साथ कार्य कर चुके हैं। वे रॉयल एशियाटिक सोसायटी (यूके) के फेलो और इंटरनेशनल बार एसोसिएशन के सदस्य हैं।

सुबुही खान भारत के उच्चतम न्यायालय में वकील हैं। वे कबीर फाउंडेशन की संस्थापक तथा राष्ट्र जागरण अभियान की संयोजक भी हैं, जिसके अधीन वे जनजागरण के लिए पूरे भारत की यात्राएँ करती हैं। उन्होंने सनातनी मुसलमान नाम से एक विचारधारा का प्रवर्तन किया तथा रहीम, रसखान और कबीर की परंपरा को आगे ले जाने के लिए प्रयासरत हैं।

डॉ. ओ. पी. शुक्ला दलित कार्यकर्ता, वकील एवं संविधान विशेषज्ञ हैं। वे भारतीय विधिक सेवा अधिकारी रहे हैं। वे आयकर अपीलीय न्यायाधिकरण के के सदस्य तथा रक्षॅअ एवं रेलवे मंत्रालयों के विधिक सलाहकार हैं। वे भारतीय विधि संस्थान नई दिल्ली में सहायक प्राध्यापक भी हैं। मो: 9958788825

डॉ. राजेश कोटेचा वैद्य ने 1991 में जामनगर स्थित गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय से एम.डी. (आयुर्वेद) किया है। वे कई पुस्तकों के लेखक हैं। उन्हें 2015 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया। भारत सरकार के आयुष मंत्रालय में सचिव के रूप में कार्यभार ग्रहण करने से पूर्व वे गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय के कुलपति रहे हैं। वे जयपुर स्थित चक्रपाणि आयुर्वेद क्लिनिक एवं शोध केंद्र के मुख्य परामर्शदाता भी रहे हैं।

आलोक कुमार बचपन से ही सामाजिक कार्यों में सक्रिय रहे हैं। वे विश्व हिंदू परिषद के केंद्रीय कार्याध्यक्ष हैं। वे भारत के उच्चतम न्यायलय में वरिष्ठ अधिवक्ता होने के साथ-साथ अंगदान को बढ़ावा देने वाली संस्था दधीचि देहदान समिति के संस्थापक संरक्षक भी हैं।

प्रो. भगवती प्रकाश अर्थविद होने के साथ ही प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों के विशेषज्ञ भी हैं। वे गौतमबुद्ध विश्वविद्यालय, नोएडा, उत्तर प्रदेश के कुलपति हैं। वे भारत सोलर पॉवर डेवलपमेंट फोरम के संयोजक और स्वदेशी जागरण मंच के सहसंयोजक हैं।
संपर्क: bpsharma131@yahoo.co.in, Mob: 9829243459

डॉ. विश्वेश वाग्मी महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, बिहार के संस्कृत विभाग में सहायक प्राध्यापक हैं। vishujnu@gmail.com, vishvesh@mgcub.ac.in

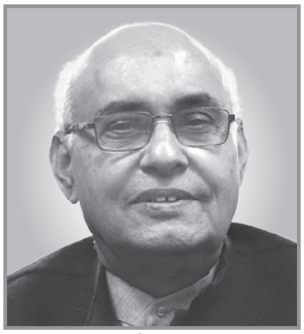

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

संपादकीय

भारतीय संविधान एवं ग्राम स्वराज्य तथा भारतीय संविधान एवं अल्पसंख्यक विशेषांकों को आपका स्नेहपूर्ण प्रतिसाद प्राप्त हुआ, आभारी हूँ।

नीति निदेशक तत्व विशेषांक आपके हाथ में है। विषय पर सामग्री भीतर के आलेखों में इतनी सांगोपांग है कि संपादकीय में उसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

भारत की राज्य-व्यवस्था ने संविधान के इस महत्त्वपूर्ण हिस्से के साथ क्या बर्ताव किया है, इसकी कहानी भी इन आलेखों में निगड़ित है। संविधान के दस्तावेज पर हुए हस्ताक्षरों की स्याही अभी सूख भी नहीं पाई थी कि तभी समान नागरिक संहिता के नीति-निर्देश के विरुद्ध भारतीय नेतृत्व सदन में 'हिंदू कोड बिल' लेकर आ गया।

यहाँ नीति निदेशक तत्वों के साथ हुए बर्ताव की केवल एक कहानी ही कहनी है। गांधीजन की संस्था 'सर्वसेवा संघ' ने भी संविधान संबंधी एक प्रस्ताव पारित किया, जो इस प्रकार है, "नवंबर 1999 के अंत में इंदौर में संपन्न हुए सर्वसेवा संघ अधिवेशन ने एक कदम और तय किया है। भारतीय संविधान के पचास साल पूरे होने पर भी उसमें उल्लिखत नीति निदेशक तत्व केवल कागज पर ही रह गए हैं। इस लंबे अरसे में सरकारों द्वारा नीति-निदेशक तत्वों के पालन की बात तो दूर रही, कई बातों में सरकारें उल्टी दिशा में गई हैं। जैसे मादक पदार्थों का निराकरण, गोवंश-रक्षा, पर्यावरण की सुरक्षा, सभी को आजीविका हेतु उपयुक्त साधन एवं संपत्ति का विकेंद्रीकरण, काम का अधिकार, ग्राम पंचायतों को स्वशासन का अधिकार तथा दस साल के भीतर सभी बालक-बालिकाओं को शिक्षा आदि। देश की जनता को इस असलियत को गंभीरता से लेना होगा। इस परिस्थिति में नीति निदेशक तत्वों को मौलिक अधिकारों में शामिल करना जरूरी हो गया है। अतः नीति निदेशक तत्वों को अमल में लाने के लिए सरकार, जनता तथा हम सबको संकल्पबद्ध होना पड़ेगा।" (भारतीय संविधान अनकही कहानी, श्री राम बहादुर राय, पृ. 14)

समाज में संविधान संबंधी साक्षरता को बढ़ाना बहुत जरूरी है। यदि इन तत्त्वों की सरकार ने उपेक्षा की है तो समाज ने भी इनकी सुध कहाँ ली है! 'मंथन' का यह अंक इस संदर्भ में लोक-साक्षरता का एक प्रयत्न है। आइए, हम मिलकर यह कार्य करें। मंथन को इस अंक के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. प्रदीप कुमार से प्रचुर बौद्धिक सहयोग प्राप्त हुआ। इसके लिए डॉ. प्रदीप के प्रति हार्दिक आभार।

इस अमृत वर्ष का एक अंक अभी बाकी है। 'भारतीय संविधान और देशी रियासतों का विलय'। मंथन का अगला अंक (अक्टूबर-दिसंबर 2022) देशी रियासतों के विलय का विशेषांक होगा। ये चारों विशेषांक ऐतिहासिक हैं। 'मंथन' के पाठकों का वलय बढ़ाने की आवश्यकता है।

शुभम्

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

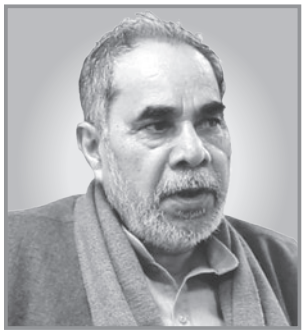

रामबहादुर राय

संविधान का मर्म
उद्देशिका, मूल अधिकार एवं नीति निदेशक तत्व

हमारे संविधान का हृदय वस्तुतः इसकी त्रिस्तरीय संरचना में अंतर्निहित है। ये तीन स्तर हैं - उद्देशिका, मौलिक अधिकार एवं नीति-निदेशक तत्व। व्यापक परिप्रेक्ष्य में इसके सार-तत्व का एक सूक्ष्म अध्ययन

साहित्य शिरोमणि महादेवी वर्मा ने एक बार लक्ष्मीमल्ल सिंघवी से पूछा कि 'तुम संविधान के तो जाने-माने विशेषज्ञ कहे जाते हो, किंतु क्या तुम्हारे सोच में संविधान में हृदय के लिए कोई स्थान है?'[1] साहित्य और संस्कृति के भी मर्मज्ञ सिंघवी का उत्तर था, 'प्रत्येक जीवंत संविधान का हृदय और स्पंदन होता है। व्यक्ति और समाज उसके चौतन्य में निवास करता है। जिसमें व्यक्ति और समाज का अतीत, वर्तमान और भविष्य भी होता है।'[2] यह प्रश्न और उसका उत्तर इस पर निर्भर करता है कि पूछने वाला कौन है। इसी तरह इस पर भी निर्भर करता है कि उत्तर देने वाला कौन है? अगर एक चिकित्सक पूछेगा तो वह जानना चाहेगा कि संविधान के हृदय का स्थान कहाँ है और वह किस अवस्था में है तो बात भिन्न होगी? क्योंकि मनुष्य के शरीर में हृदय का स्थान सुनिश्चित है। उसका कार्य भी प्रकृति ने निर्धारित कर रखा है। लेकिन संविधान में हृदय का प्रश्न वास्तव में उसकी आत्मा से संबंधित है। जिसे संविधान विशेषज्ञ संविधान के मूल आधार और उसकी आत्मा के रूप में समय-समय पर बताते रहे हैं। वह क्रम चल रहा है, रुका नहीं है। इन बातों का संबंध इससे भी है कि संविधान को किस दृष्टिकोण से देख रहे हैं। क्या भारतीय संविधान एक धर्मग्रंथ या एक पुस्तक है?

कोई भी संविधान उस देश की वह पुस्तक होती है जिससे राज्य-व्यवस्था को चलाया जाता है। पूर्व कानून मंत्री रविशंकर प्रसाद ने इसे वह पुस्तक कहा, जो 'सर्वोच्च राजनीतिक दस्तावेज है।'[3] पुस्तक में संशोधन हो सकता है, जबकि धर्मग्रंथ में यह संभव नहीं होता। प्रश्न है और यह बहुत स्वाभाविक प्रश्न है, काल्पनिक नहीं है। वह यह कि संविधान को किस उपमा से जानें? यह इसलिए है क्योंकि अनेक उपमाओं से संविधान को जानने के प्रयास शुरू से हो रहे हैं। इसके कई उदाहरण हैं। जैसे, हिमाचल प्रदेश हाईकोर्ट की मुख्य न्यायाधीश रहीं लीला सेठ का ही है। स्कूली बच्चों को संविधान समझाने के लिए उन्होंने एक पुस्तक लिखी। उसका शीर्षक है-'हम, भारत के बच्चे, हमारे संविधान की उद्देशिका'।[4] उसमें उन्होंने लिखा कि 'प्यारे बच्चों! मैंने भारत के संविधान की उद्देशिका पर यह पुस्तक तुम्हारे लिए लिखी है।'[5] यहाँ एक प्रश्न फिर है। अंग्रेजी में एक शब्द चलन में है। वह प्रीएंबुल है। लेकिन हिंदी में मोटे तौर पर दो शब्द चलाए जा रहे हैं, उद्देशिका और प्रस्तावना। प्रधानमंत्री संग्रहालय में जो शब्द लिखा गया है, वह प्रस्तावना है। लेकिन संविधान के तीन मर्मज्ञों डा. दुर्गादास बसु, ब्रजकिशोर शर्मा और सुभाष काश्यप ने अपनी पुस्तक में उद्देशिका शब्द को ही अपनाया है। प्रस्तावना और उद्देशिका के अर्थ एक से नहीं है, बिलकुल भिन्न हैं।

इस आलेख में उद्देशिका शब्द का ही उल्लेख किया जा रहा है। लेकिन बात शुरू हुई थी, लीला सेठ की पुस्तक से। वे लिखती हैं कि 'अच्छे नागरिक हम तभी बन सकते हैं जब हम संविधान के उद्देश्यों को मानें। यह उद्देश्य उद्देशिका यानी संविधान के पहले लंबे वाक्य में दिए गए हैं।'[6] वे अपनी पुस्तक में आगे लिखती हैं कि 'जिसे भारत का संविधान कहते हैं। इसमें वे सब विचार व नियम हैं जिनसे हमारा देश

चलता है। यह हमारे देश की सबसे अहम् पुस्तक है। यह उद्देशिका से शुरू होती है, यानी इसकी भूमिका से। वह उद्देशिका मानो संविधान की आत्मा है। इसमें हमारे राष्ट्रीय उद्देश्य लिखे गए हैं जैसे कि न्याय और बराबरी (न्याय यानी जो उचित या सही का फैसला करे।... उद्देशिका में क्या है? उसका अर्थ क्या है, यह कैसे लिखी गई और इसे किसने लिखा?'[7] लीला सेठ ने बच्चों को समझाने के लिए ये जो प्रश्न उठाए और उसके उत्तर सरल शब्दों में उन्होंने अपनी पुस्तक में दिए, उससे उद्देशिका का एक स्वरूप सामने आता है। उन्होंने उद्देशिका को समझाने के लिए पुस्तक की उपमा दी है। उद्देशिका को उन्होंने संविधान की भूमिका बताया है।

इसी से दूसरा प्रश्न पैदा होता है कि क्या भूमिका बदली जा सकती है? यह प्रश्न असाधारण है। इसमें जितना गहरे उतरेंगे उतना ही एक गहन पहेली में पड़ते जाएंगे। उस पहेली को सुलझाने की कोशिश में मूल विषय से भटक जाने का भी खतरा है। इसलिए सावधानी जरूरी है। संविधान मर्मज्ञ ब्रजकिशोर शर्मा ने अपनी पुस्तक के प्रारंभ में ही लिखा है, 'हमारा संविधान क्रांति का परिणाम नहीं है। यह लगभग सौ वर्ष के प्रयासों का परिणाम है।'[8] इस अंश का अंतिम वाक्य एक महावाक्य है। इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भारतीय संविधान एक अहिंसक प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ है। एक धारणा यह भी है कि यह एक राजनीतिक समझौते का परिणाम है। इसमें सत्यांश है। क्या संविधान की उद्देशिका, मौलिक अधिकार और नीति-निदेशक तत्व पर उसका कोई प्रभाव पड़ा है? यह भी एक प्रश्न है, जिसे इस समय प्रश्न ही रहने देना ही उचित है। अभी तो यह जानें कि उद्देशिका है क्या? दुर्गादास बसु ने लिखा है कि 'प्रत्येक संविधान का अपना एक दर्शन होता है।'[9]

इस तरह वे उद्देशिका को संविधान का दर्शन बताते हैं। इस पर विचार विमर्श चलता रहेगा। फिलहाल इस आलेख में यह समझने का प्रयास है कि संविधान मर्मज्ञों ने जिस पहली पहेली का सामना किया वह यह था कि क्या उद्देशिका संविधान का अभिन्न अंग है? इसी से संविधान के दर्शन की व्याख्या प्रारंभ होती है। संवैधानिक व्यवस्था में सुप्रीम कोर्ट ही है जिसे समय-समय पर आवश्यकता अनुसार संविधान की व्याख्या करनी होती है। यह एक विडंबना है कि उद्देशिका के बारे में सुप्रीम कोर्ट ने ही उलझन पैदा की। सुप्रीम कोर्ट के अनेक निर्णयों में उद्देशिका पर द्वंद झलकता है। एक तरफ तो सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश यह मानते हैं कि 'उद्देशिका संविधान निर्माताओं के मन की कुंजी है। जहाँ शब्द अस्पष्ट पाए जाएँ, वहाँ संविधान निर्माताओं के आशय को समझने के लिए उद्देशिका की सहायता ली जा सकती है।'[10] लेकिन बहुत लंबे समय तक सुप्रीम कोर्ट ने यह नहीं माना कि उद्देशिका संविधान का अंग है। 'न्यायमूर्ति गजेंद्र गडकर ने कहा था कि उद्देशिका संविधान का अंग नहीं है।'[11] इससे उलझन बढ़ी।

लेकिन स्पष्टता आई जब सुप्रीम कोर्ट ने निर्णय दिया कि नागरिकों के मूल अधिकारों, संविधान के नीति निर्देशक तत्त्वों को भी समझने के लिए उद्देशिका से सहायता मिलती है। थोड़ी स्पष्टता और आई जब सुप्रीम कोर्ट के ज्यादातर न्यायाधीशों ने संविधान सभा की बहसों का संदर्भ देकर निर्णय सुनाया कि उद्देशिका संविधान का अंग है। मुख्य न्यायाधीश एस.एम. सीकरी ने अपने निर्णय में कहा कि 'संविधान की

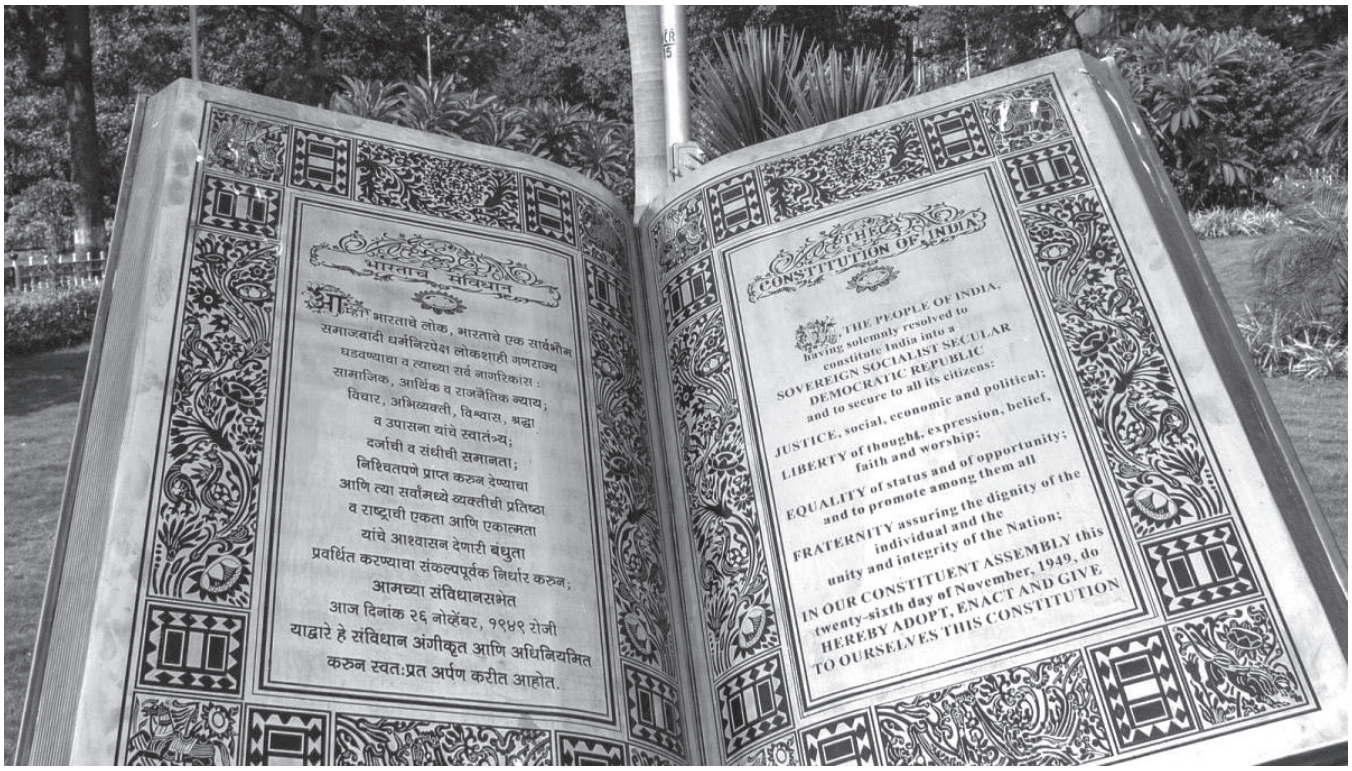

साभार : https://currentaffairs.adda247.com/constitution-of-india-preamble-2022/

उद्देशिका का विधायी इतिहास इसके महत्व को उचित ठहराता है। उद्देशिका संविधान का केवल एक अंग ही नहीं है बल्कि वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। संविधान को उद्देशिका के शब्दों में गहरे उतरकर समझना चाहिए।'[12] इस प्रकार सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्टतया कहा कि 'हमारे संविधान का प्रासाद उद्देशिका में वर्णित मूलाधार तत्वों पर निर्मित है। अगर इनमें से किसी भी तत्व को हटा दिया जाए तो सारा प्रासाद ही ढह जाएगा और संविधान वही नहीं रह जाएगा अर्थात अपना व्यक्तित्व और पहचान खो देगा।'[13] इससे उद्देशिका के बारे में एक स्पष्टता आई। लेकिन नया प्रश्न भी पैदा हुआ कि संविधान के मूल तत्व क्या हैं? इसे अब तक अपरिभाषित ही रखा गया है।

उद्देशिका में संविधान का दर्शन है। उसे जानने और समझने के लिए मूल संविधान की उद्देशिका को पढ़ना चाहिए। उसे आत्मसात करना चाहिए। अंतरराष्ट्रीय ख्याति के एक दार्शनिक आकाश सिंह राठौर ने लिखा है, 'मूल उद्देशिका में 44 शब्द हैं, अगर उसके घोषणात्मक और उद्देश्यपरक अंश को इसमें शामिल न करें।'[14] जिससे संविधान का दर्शन प्रस्फुटित होता है, उद्देशिका में वे शब्द सिर्फ छः हैं, न्याय, स्वतंत्रता, समता, गरिमा, राष्ट्र और बंधुता। ये शब्द मात्र शब्द नहीं है। हर शब्द ने स्वाधीनता संग्राम में अपना एक अर्थ ग्रहण कर लिया। उसका एक शब्दचित्र बना। वह राष्ट्र की आकांक्षा में प्राण तत्व के रूप में स्थित है। संविधान निर्माताओं ने उसे ही इन शब्दों से उद्देशिका को सूत्र रूप दिया। उन सूत्रों से ही संविधान रूपी वृक्ष से मौलिक अधिकारों की एक टहनी निकली। लेकिन यह भी सच है कि उद्देशिका सिर्फ मार्गदर्शन के लिए है। यह उसकी सीमा है और उसकी अनंत संभावना भी इसी में छिपी हुई है। संविधान को देश का सर्वोच्च कानून समझ लें तो उद्देशिका का महत्व अपने आप प्रकट हो जाता है। संविधान में उद्देशिका सबसे पहले इसलिए है क्योंकि 'कानून की व्याख्या और उसे समुचित रूप से लागू कराने में कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को निदेर्शित करना है।'[15] पर उसे अधिकार के रूप में प्राप्त करने के लिए न्यायालय का दरवाजा खटखटाया नहीं जा सकता। ऐसा सुप्रीम कोर्ट के एक निर्णय से प्रकट हुआ।[16]

क्या उद्देशिका में वह आ गया है जिसे महात्मा गांधी चाहते थे? इसे डा. दुर्गा दास बसु ने विशेष रूप से चिह्नित किया है। वे लिखते हैं कि 'उद्देशिका में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र को समानता और बंधुता से जोड़ते हुए जो स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है उसे महात्मा गांधी ने ''मेरे सपनों का भारत'' कह कर वर्णित किया था।'[17] उन्होंने गांधीजी के एक कथन का उद्धरण दिया है। वह है-'ऐसा भारत जिसमें गरीब से गरीब भी यह समझेगा कि यह उसका देश है जिसके निर्माण में उसका भी हाथ है।...वह भारत जिसमें सभी समुदाय पूर्णतया समरस होकर रहेंगे। ऐसे भारत में अस्पृश्यता के श्राप के लिए या मादक पेय और नशीली दवाओं-द्रव्यों के लिए कोई स्थान नहीं होगा। स्त्री और पुरूष समान अधिकारों का उपभोग करेंगे।'[18] संविधान के विशेषज्ञ एन. ए. पालकीवाला ने उद्देशिका को संविधान का परिचय पत्र बताया है।

उद्देशिका का लेखक कौन है? इस पर भी अध्ययन और शोध किया जा रहा है। आम धारणा है कि जवाहरलाल नेहरू इसके प्रधान शिल्पी हैं। दूसरी धारणा है कि सर बेनेगल नरसिंह राव हैं। तीसरी धारणा है कि संविधान सभा की प्रारूप समिति ने इसे रचा और शब्द दिए। चौथी धारणा है कि इसे डॉ. भीमराव अंबेडकर ने अपनी अनुभूति और राजनीतिक अनुभवों से शब्दबद्ध किया। इन सभी धारणाओं का एक इतिहास है। इसमें सत्यांश है। लेकिन आकाश सिंह राठौर ने अपनी पुस्तक के उपसंहार में लिखा है कि 'भारतीय संविधान की उद्देशिका स्पष्टतः डॉ. भीमराव अंबेडकर की लिखी हुई है।'[19] ऐसा लग सकता है कि इस आलेख में उद्देशिका पर विशेष ध्यान दिया गया है। अगर ऐसा है तो इसका कारण स्पष्ट करना आवश्यक है। संविधान को जानने और बरतने वाले भी उद्देशिका को वह महत्व नहीं देते जो उसे दिया जाना चाहिए। इसे एक उपमा से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे, कौटिल्य अर्थशास्त्र है। वह भारत में प्राचीन राज्य व्यवस्था की पुस्तक है। उसे सरल बनाया गया है, पंचतंत्र में। उससे भी ज्यादा सुबोध और सुगम है, हितोपदेश। इसी तरह उद्देशिका में वे विचार हैं जो एक भारतीय नागरिक को मुक्त आकाश के दर्शन की अनुभूति कराता है। यही वह अंश है जिसे हर व्यक्ति समझ सकता है, क्योंकि यह स्पष्ट है। सूत्ररूप में है।

संविधान जब से कार्यरत है, पहले दिन से ही यह बात किसी न किसी तरह से कही जाती है और बताया जाता है कि संविधान की अंतरात्मा का वास कहाँ है! सात दशक से ज्यादा समय निकल गया है। इन सात दशकों में इस बारे में अगर कहीं कोई भ्रम या संदेह रहा है तो वह दूर हो गया है। अब यह हर किसी को स्पष्ट है कि उद्देशिका, मौलिक अधिकार और नीति निर्देशक तत्त्वों में संविधान की अंतरात्मा का वितान है। इनमें परस्परता है। इन्हें अलग-अलग नहीं देखना चाहिए। क्योंकि इनमें आंतरिक संबंध है। इन्हें तीन शब्दों से परिभाषित किया जा सकता है- वाक, अर्थ और अभिप्राय। वाक अर्थात शब्द। अर्थ में उस शब्द का परिचय आ जाता है। लेकिन अभिप्राय को समझना पड़ता है। संविधान की उद्देशिका, मौलिक अधिकार और नीति-निदेशक तत्त्वों के अभिप्राय से अवगत वही हो सकेगा जो उस भाव से

उद्देशिका में संविधान का दर्शन है। उसे जानने और समझने के लिए मूल संविधान की उद्देशिका को पढ़ना चाहिए। उसे आत्मसात करना चाहिए। अंतरराष्ट्रीय ख्याति के एक दार्शनिक आकाश सिंह राठौर ने लिखा है, 'मूल उद्देशिका में 44 शब्द हैं, अगर उसके घोषणात्मक और उद्देश्यपरक अंश को इसमें शामिल न करें।' जिससे संविधान का दर्शन प्रस्फुटित होता है, उद्देशिका में वे शब्द सिर्फ छः हैं, न्याय, स्वतंत्रता, समता, गरिमा, राष्ट्र और बंधुता

अपने मन के तार को जोड़ पाएगा जो संविधान निर्माताओं के थे। इस तरीके से संविधान के प्रयोजन को आत्मसात करना संभव है। कहने में यह सरल है, करने में कठिन है। इसे अपनाना तो अत्यंत कठिन है। दुनियाभर की बड़ी बाधाएँ रास्ते में आ जाती हैं, उन्हें खड़ा भी किया जाता है।

संविधान के भाग तीन में मौलिक अधिकार दिए गए हैं। इनका एक इतिहास है। जिसका संबंध ब्रिटिश राज से है। उस समय नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कम करने के प्रयास हर चरण में किए जाते रहे। स्वाधीनता आंदोलन का यह एक आश्वासन था कि नागरिक स्वतंत्रता स्थापित की जाएगी। साइमन आयोग और संयुक्त संसदीय समिति ने जो भारत शासन अधिनियम, 1935 बनाया उसमें मौलिक अधिकारों का प्रावधान नहीं था। लेकिन नेहरू कमेटी की रिपोर्ट ने देश को इसका आश्वासन दिया। उस अनुभव के आधार पर राष्ट्रीय आकांक्षा को ध्यान में रखकर संविधान में मौलिक अधिकारों और नीति-निदेशक तत्त्वों की रचना की गई। जिससे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पाने के लिए मौलिक अधिकारों का प्रावधान हुआ। 'जब संविधान सभा ने संविधान निर्माण का काम अपने हाथों में लिया तो सबसे पहले एक अधिकार-पत्र बनाने का विचार किया। संविधान निर्माता चाहते थे कि इस अधिकार-पत्र में भारत की विविध तथा समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा के उन विशिष्ट मूल्यों एवं संकल्पनाओं का स्पष्ट रूप झलके जिनकी जड़ें राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की प्रेरणाओं में समाई हुई थीं। संविधान सभा तथा उसकी समितियों में विभिन्न चरणों से गुजरने के बाद जल्दी ही एक व्यापक अधिकार-पत्र तैयार हो गया। डॉ. अंबेडकर ने मूल अधिकारों से संबंधित संविधान के भाग तीन को 'सर्वाधिक आलोचित भाग' कहा था। इस पर 38 दिनों तक चर्चा हुई। उपसमिति में 11 दिनों तक, सलाहकार समिति में दो दिन तक और संविधान सभा में 25 दिनों तक विचार-विमर्श हुआ।'[20]

आम धारणा है कि भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार के प्रावधान अमेरिका की नकल पर किए गए हैं। सच यह है कि भारतीय संविधान अमेरिका के प्रावधानों से कहीं बहुत आगे जाता है क्योंकि संसदीय प्रभुता और न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धांतों के बीच भारतीय संविधान एक समन्वय स्थापित करता है। ब्रिटेन की संसद सर्वोच्च है। अमेरिका में न्यायिक सर्वोच्चता स्थापित है। लेकिन भारतीय संविधान चूँकि लिखित है इसलिए संसद, न्यायपालिका और कार्यपालिका में एक समन्वय की स्थापना की गई है। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि जहाँ अमेरिका और ब्रिटेन ने अपने लिए एक अति चुनी है, वहीं भारत ने मध्यमार्ग चुना है। भारतीय जीवनदृष्टि अतियों में डोलने की नहीं है, मध्यमार्ग की है। इसे राज्य-व्यवस्था में रूपांतरित करने की कोशिश संविधान में की गई है।

आम धारणा है कि भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार के प्रावधान अमेरिका की नकल पर किए गए हैं। सच यह है कि भारतीय संविधान अमेरिका के प्रावधानों से कहीं बहुत आगे जाता है क्योंकि संसदीय प्रभुता और न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धांतों के बीच भारतीय संविधान एक समन्वय स्थापित करता है। ब्रिटेन की संसद सर्वोच्च है। अमेरिका में न्यायिक सर्वोच्चता स्थापित है। लेकिन भारतीय संविधान चूँकि लिखित है इसलिए संसद, न्यायपालिका और कार्यपालिका में एक समन्वय की स्थापना की गई है। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि जहाँ अमेरिका और ब्रिटेन ने अपने लिए एक अति चुनी है, वहीं भारत ने मध्यमार्ग चुना है

यह मूल संविधान पर लागू होता है। उसे सरकार और संसद ने बदला है। सुप्रीम कोर्ट ने बदला है। इस तरह एक सौ तीन बार जो संविधान बदला गया है उससे उसकी वह मूर्ति यथावत नहीं है जो लागू होते समय थी। इसे दो उदाहरणों से जानना आसान है। पहला उदाहरण है, कांग्रेस शासन का। पंडित जवाहरलाल नेहरू से इंदिरा गांधी तक जो-जो संशोधन संविधान में किए गए उससे मौलिक अधिकारों में भारी कटौती हुई। संविधान निर्माताओं का इससे बड़ा मजाक क्या हो सकता है! दूसरा उदाहरण है, जनता सरकार का। उस सरकार ने अपने एक निर्णय से 'जल्दबाजी में संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा अनुच्छेद 19(1)(च) और 31 का एक महत्वपूर्ण मूल अधिकार, संपत्ति के अधिकार, का लोप कर दिया।'[21] मौलिक अधिकार में सात अधिकारों का वर्णन था। अब वे छः हैं। संविधान के भाग चार में नीति-निदेशक तत्व समाहित हैं। वे एक आदर्श हैं। जिनके लिए राज्यतंत्र को प्रयास करना चाहिए। लेकिन अनेक संशोधनों से नीति-निदेशक तत्व में भी परिवर्तन हुए हैं। मूलतः तो नीति-निदेशक तत्त्वोंकी रचना इसलिए की गई थी कि राज्य लोक कल्याणकारी कदम उठाए। जिससे अवसरों की समानता हो और समाज में समरसता पैदा हो। डा. सुभाष काश्यप ने लिखा है कि 'व्यक्ति के मूल अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ संविधान निर्माता यह भी चाहते थे कि हमारा संविधान सामाजिक क्रांति के लिए एक प्रभावी साधन बने।'[22]

सर्व सेवा संघ ने आज से 22 साल पहले एक प्रस्ताव पारित किया। वह इस प्रकार है, "नवंबर, 99 के अंत में इंदौर में संपन्न हुए सर्व सेवा संघ-अधिवेशन ने एक कदम और तय किया है। भारतीय संविधान के पचास साल पूरे होने पर भी उसमें उल्लिखित नीति-निदेशक तत्व केवल कागज पर ही रह गए हैं। इस लंबे अरसे में सरकारों द्वारा नीति-निदेशक तत्त्वों के पालन की बात तो दूर रही कई बातों में सरकारें उल्टी दिशा में गई हैं। जैसे मादक पदार्थों का निराकरण, गोवंश-रक्षा, पर्यावरण की सुरक्षा, सभी को आजीविका हेतु उपयुक्त साधन एवं संपत्ति का विकेंद्रीकरण, काम के अधिकार, ग्राम पंचायतों को स्वशासन का अधिकार तथा दस साल के भीतर

सभी बालक-बालिकाओं को शिक्षा आदि। देश की जनता को इस असलियत को गंभीरता से लेना होगा। इस परिस्थिति में नीति-निदेशक तत्त्वों को बुनियादी अधिकारों में शामिल करना जरूरी हो गया है। संविधान परिवर्तन की बात कई क्षेत्रों से आ रही है। यह परिवर्तन सांप्रदायिक तथा तानाशाही शक्तियों का शिकंजा न बन जाए इसकी सावधानी बरतनी होगी। इस मौजूदा हालात के लिए सरकारों के साथ-साथ जनता तथा हम समाज-सेवकों की भी कुछ भूलें हो सकती हैं। अत: नीति-निदेशक तत्त्वों को अमल में लाने के लिए सरकार, जनता तथा हम सबको संकल्पबद्ध होना पड़ेगा।'[23] इस प्रस्ताव पर भारत सरकार का ध्यान खींचने के लिए सर्व सेवा संघ ने 26 जनवरी, 2000 को जगह-जगह उपवास रखा।

भारत सरकार ने समय-समय पर नीति-निदेशक तत्व में संशोधन कर कुछ कल्याणकारी कदम उठाए हैं। लेकिन वे कदम नगण्य हैं। नीति-निदेशक तत्व में अनुच्छेद 44वाँ ऐसा है जिसे कसौटी कहा जा सकता है। भारत की राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं की जहाँ से गुत्थी शुरू होती है वह इसी अनुच्छेद में है और जिसका पालन हो तो वह हल की जा सकती है। लेकिन अभी तक किसी सरकार ने इस बारे में उचित निर्णय नहीं किया है। हालाँकि इस समय उसके लिए सबसे उचित वातावरण बना हुआ है। वह है, समान नागरिक संहिता। संविधान विशेषज्ञ ब्रजकिशोर शर्मा ने लिखा है कि "मूल अधिकार और निदेशक तत्वों का एक ही उद्‌भव है। 1928 के नेहरू प्रतिवेदन में जिसमें भारत के लिए स्वराजी विधान बनाया गया था मूल अधिकारों को स्थान दिया गया था। इन अधिकारों में प्रारंभिक शिक्षा का अधिकार भी सम्मिलित था। 1945 के सप्रू प्रतिवेदन में मूल अधिकारों को स्पष्ट रूप से दो भागों में बाँटा गया था - न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय और अप्रवर्तनीय। संविधान सभा के संवैधानिक सलाहकार सर बेनेगल नरसिंह राव ने यह सलाह दी थी कि व्यक्तियों के अधिकारों को दो प्रवर्गों में विभाजित किया जाए। वे जिन्हें न्यायालय द्वारा प्रवृत्त कराया जा सकता है और वे जो इस प्रकार प्रवृत्त नहीं कराए जा सकते। उनके विचार में दूसरा प्रवर्ग राज्य के प्राधिकारियों के लिए नैतिक उपदेश के रूप में था। उनका सुझाव प्रारूप समिति ने भी स्वीकार किया। इसके परिणामस्वरूप न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय मूल अधिकार भाग तीन में हैं और निर्देशक तत्व, जो अप्रवर्तनीय हैं, भाग चार में हैं। इन दोनों का उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा व्यक्ति की गरिमा और कल्याण की प्राप्ति है।'[24]

भारत सरकार ने समय-समय पर नीति-निदेशक तत्व में संशोधन कर कुछ कल्याणकारी कदम उठाए हैं। लेकिन वे कदम नगण्य हैं। नीति-निदेशक तत्व में अनुच्छेद 44वाँ ऐसा है जिसे कसौटी कहा जा सकता है। भारत की राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं की जहाँ से गुत्थी शुरू होती है वह इसी अनुच्छेद में है और जिसका पालन हो तो वह हल की जा सकती है। लेकिन अभी तक किसी सरकार ने इस बारे में उचित निर्णय नहीं किया है। हालाँकि इस समय उसके लिए सबसे उचित वातावरण बना हुआ है

संदर्भ:

1. *भारत: आजादी और संस्कृति*, डा. लक्ष्मी मल्ल सिंघवी, पृष्ठ-30, 31
2. *वही*, पृष्ठ-31
3. *हमारा संविधान: एक पुनरावलोकन, संवैधानिक लोकतंत्र और मूलभूत ढाँचे की अवधारणा*, रविशंकर प्रसाद, पृष्ठ-46
4. *हम, भारत के बच्चे, हमारे संविधान की उद्देशिका*, लीला सेठ
5. *वही*, प्रस्तावना, पृष्ठ-1
6. *वही*, प्रस्तावना, पृष्ठ-1
7. *वही*, प्रस्तावना, पृष्ठ-8
8. *भारत का संविधान: एक परिचय*, तेरहवां संस्करण, ब्रजकिशोर शर्मा, पृष्ठ-1
9. *भारत का संविधान: एक परिचय*, दुर्गादास बसु, संविधान दर्शन, पृष्ठ-22
10. *हमारा संविधान: भारत का संविधान और संवैधानिक विधि*, उद्देशिका, डा. सुभाष काश्यप, पृष्ठ-44
11. *वही*, पृष्ठ-44
12. *केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य*, ए.आइ. आर. 1973, एस.एम. सीकरी
13. *हमारा संविधान: भारत का संविधान और संवैधानिक विधि*, उद्देशिका, डा. सुभाष काश्यप, पृष्ठ-45
14. *अंबेडकर'स प्रीएंबुल: ए सीक्रेट हिस्टरी आफ द कांस्टीट्युशन आफ इंडिया*, आकाश सिंह राठौर, प्रीएबंल, पृष्ठ- गग
15. *भारतीय संविधान, रचना एवं कार्य, भारतीय संविधान की आत्मा*, शिबानी किंकर चौबे, पृष्ठ-16
16. गोपालन बनाम मद्रास राज्य, (1950), ए.सी. आर. 88 (198), यूनियन आफ इंडिया बनाम मदन गोपाल (1954), ए.सी.आर.541(555)
17. *भारत का संविधान: एक परिचय*, दुर्गा दास बसु, पृष्ठ-35
18. *मेरे सपनों का भारत*, गांधी जी, संस्करण -1960, पृष्ठ-6-7
19. *अंबेडकर'स प्रीएंबुल*, आकाश सिंह राठौर, उपसंहार, पृष्ठ-177
20. *हमारा संविधान, भारत का संविधान और संवैधानिक विधि*, डा. सुभाष काश्यप, पृष्ठ-75
21. *भारत का संविधान, एक परिचय*, डा. दुर्गा दास बसु, पृष्ठ-99
22. *हमारा संविधान, भारत का संविधान और संवैधानिक विधि*, डा. सुभाष काश्यप, पृष्ठ-124
23. सर्व सेवा संघ ग्राम स्वराज्य आंदोलन समिति द्वारा प्रसारित,
24. *भारत का संविधान: एक परिचय*, तेरहवां संस्करण, ब्रजकिशोर शर्मा, पृष्ठ-154

नीति निदेशक तत्वों में गांधीवादी दृष्टि एक अनुशीलन

दीपंकर श्री ज्ञान

डॉ. वेदाभ्यास कुंडू

मानसी शर्मा

महात्मा गांधी के सपनों का स्वराज गरीब आदमी का स्वराज है। उनके विचारों के प्रभाव हमारे नीति निदेशक तत्वों में आसानी से देखे जा सकते हैं। एक दृष्टि

मैं एक ऐसे संविधान के लिए प्रयास करूँगा, जो भारत को समस्त दासता और सरपरस्ती से मुक्त रखे, और यदि आवश्यक हो, तो उसे नीतिविरुद्ध कार्य करने का अधिकार दे, मैं एक ऐसे भारत के लिए कार्य करूँगा, जिसमें बेहद गरीब लोगों को अहसास हो कि यह उनका देश है, जिसके निर्माण में उनका एक अहम योगदान है; एक भारत जिसमें लोगों का कोई उच्च वर्ग या निम्न वर्ग न हो; एक भारत जिसमें सभी समुदाय पूरी समरसता के साथ रहें। ऐसे किसी भारत में अस्पृश्यता के अभिशाप अथवा मादक पेयों और नशीले पदार्थों के अभिशाप की कोई गुंजाइश न हो। पुरुषों के समान ही महिलाओं को अधिकार मिलें..., (महात्मा गांधी, यंग इंडिया, 10.09.1931)

संविधान को क्या सहयोग करना चाहिए, इसके प्रति गांधी की परिकल्पना उनके सपनों के भारत का निरूपण करती है। इसके अतिरिक्त, उनका ताबीज हमें इस बात का एक बहुमूल्य सुझाव देता है कि जनमानस के कल्याण को ध्यान में रखते हुए हमारी नीतियाँ समाज के अंतिम व्यक्ति तक पहुँच कर कैसे तैयार की जानी चाहिए। पूर्ण स्वराज अथवा पूर्ण स्वतंत्रता के उनके विचार में इस पथदर्शी प्रकाश की झलक दिखाई देती है, जिसमें जीवन की वे सभी सामान्य 'सुख-सुविधाएँ' गरीब लोगों को भी सुलभ होनी चाहिए, जिनका लाभ अमीर लोग लेते हैं। इस संदर्भ में, बापू ने *यंग इंडिया* में लिखा है, ''मेरे सपनों का स्वराज गरीब व्यक्ति का स्वराज है। जीवन की आवश्यक वस्तुओं का लाभ आप सबको उसी प्रकार मिलना चाहिए जिस प्रकार राजकुमारों और सेठों को मिलता है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके भवनों की तरह आपके भी भवन हों। खुशहाली के लिए यह जरूरी नहीं हैं। मैं और आप उनमें खो जाएँगे। किंतु आपको जीवन की वे सभी सामान्य सुख-सुविधाएँ मिलनी चाहिए, जो किसी अमीर व्यक्ति को मिलती हों। मुझे इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि स्वराज तब तक पूर्ण स्वराज नहीं हो सकता जब तक कि इसके अंतर्गत आपको ये सभी सुख-सुविधाएँ सुनिश्चित नहीं हो जातीं।'' (*यंग इंडिया*, 26.3.1931)

अमीर लोगों की तरह समाज के अंतिम व्यक्ति तक सामान्य सुख-सुविधाएँ उपलब्ध कराने की आवश्यकता पर महात्मा के इस दृष्टिकोण की झलक उनकी राम राज्य की अवधारणा में दिखाई देती है। राम राज्य के गांधी के मूलभूत सिद्धांत का वर्णन एक साझा वैश्विक चेतना के लिए, युवाओं और वृद्धों, उच्च व निम्न वर्गों, सभी प्राणियों और स्वयं पृथ्वी के लिए 'धर्मभूमि और शांति, समरसता व खुशहाली के एक क्षेत्र' के रूप में किया जा सकता है।

यहाँ तुलसीदास के एक दोहे के साथ-साथ राम राज्य का उनका वर्णन भी स्मरण हो आता है :

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहि भय सोक न रोग॥

इस दोहे के अनुसार राम राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है, जहाँ कोई भय, कोई दुख और कोई बीमारी न हो और हर व्यक्ति धर्म अथवा अपने आश्रम के अनुरूप रहने का प्रयास करे। इसका तात्पर्य एक ऐसे राज्य से भी

है जहाँ हर व्यक्ति वही करे, जिसकी अपेक्षा उससे उसके कार्य में करने की की जाए। इस दोहे के सार की व्याख्या गोयल इस प्रकार करते हैं, ''हमें एक ऐसा राज्य चाहिए जो निष्कलंक हो और ईमानदारी से कहें तो इसे प्राप्त करना कितना सरल प्रतीत होता है। बस आप अपनी पूरी योग्यता से अथवा जैसा विहित हो उसके अनुरूप वही करें जिसकी आप से अपेक्षा हो। इस पर सोचें, यदि हम सब वह करें, जिसकी हमसे अपेक्षा हो, तो विश्व की 99 प्रतिशत समस्याएँ चुटकियों में दूर हो जाएंगी।''

एक कल्याणकारी राज्य के विचारों की पृष्ठभूमि में, जिसमें गांधी के सूत्र, उनके *पूर्ण स्वराज* और *राम राज्य* के विचार की गूँज सुनाई देती है, राज्य के नीति निदेशक तत्वों का अनुशीन गांधीवादी दृष्टिकोण से करना श्रेयस्कर होगा। इस अध्याय में यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि गांधीवादी सुझावों में निर्देशक सिद्धांतों की झलक किस प्रकार दिखाई देती है।

निदेशक तत्वों का महत्व

भारतीय संविधान को न केवल विश्व के विशालतम संविधानों में से एक के बल्कि एक अति व्यापक संविधान के रूप में भी देखा जाता है। इसमें समाज के सभी वर्गों के अपनी जाति, संप्रदाय, धर्म अथवा संस्कृति के मूलों के साथ आगे बढ़ते लोगों के जीवन की प्राय: प्रत्येक कल्पनीय स्थिति और पहलू के प्रावधानों का समावेश है। इसमे प्रत्यक्ष कानून अथवा कानूनों के प्रवर्तन के प्रावधानों का समावेश भी है, जिनमें अनुच्छेद 12 के तहत राज्य की व्याख्या से नागरिकता, मौलिक अधिकारों, राज्य के नीति निदेशक तत्वों, मौलिक कर्तव्यों, राष्ट्रपति, न्यायपालिका, और संसद आदि तक के प्रावधान शामिल हैं। अलग-अलग देशों के संविधानों और महात्मा गांधी जैसी महान हस्तियों के सकारात्मक प्रभावों के फल के रूप में संविधान में इन सभी को स्थान दिया गया है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 36 से 51 तक के अध्याय 4 में राज्य के नीति निदेशक तत्वों का विवरण है। ये निदेशक तत्व वे सिद्धांत हैं, जो कानून के गठन और नीति निर्धारण की प्रक्रिया में राज्य के मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। कुंडू एवं शर्मा (2022) के अनुसार, ''हालांकि इन तत्वों को वादेतर बनाया गया है और इन्हें लेकर नागरिक न्यायालय नहीं जा सकते, किंतु भारत के सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न आदेशों/फैसलों के माध्यम से इन्हें राज्य के शासन में मौलिक सिद्धांतों के रूप में मान्यता दी गई है।''

उदाहरण के लिए 1 जुलाई, 1985 को महाराव साहिब श्री भीम सिंहजी बनाम भारत संघ एवं अन्य मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने टिप्पणी दी, ''निदेशक तत्व केवल सिद्धांत नहीं हैं। हालांकि ये निदेश न्यायालयों में संज्ञेय नहीं हैं और यदि प्रभावी सरकार इन उद्देश्यों को पूरा करने में असफल रहती है, तो कोई भी न्यायालय सरकार से उन्हें सुनिश्चित करने के लिए नहीं कह सकता है, फिर भी शासन में इन तत्वों की घोषणा मौलिक सिद्धांत के रूप में की गई है।'' सर्वोच्च न्यायालय ने यहाँ तक कहा है कि राष्ट्र हित के मद्देनजर इन सिद्धांतों को मौलिक अधिकारों पर प्राथमिकता दी जा सकती है। यह संभवत: मौजूदा दौर की आवश्यकता है, जिसमें राज्य एक कल्याणकारी राज्य की ओर अग्रसर है। भारत इसका अपवाद नहीं है। इसलिए, संविधान के निर्माताओं ने सामाजिक और आर्थिक न्याय व आय, स्थिति, सुविधाओं और अवसरों में असमानताओं को कम करने के प्रावधानों के साथ-साथ एक राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना से संबद्ध प्रावधानों की व्यवस्था करते हुए 'कल्याणकारी राज्य' के रूप में भारत का विकास करने में उत्तम सूझ-बूझ का परिचय दिया।

संविधान के निर्माण के दौरान ही, 19 नवंबर, 1948 को संविधान सभा में निदेशक तत्वों के महत्व पर बहस करते हुए, डॉ. बी. आर. अंबेडकर ने कहा कि इन सिद्धांतों को

देश के भावी शासन का आधार होना चाहिए, ''इस सभा का आशय यह है कि भविष्य में विधायिका और कार्यपालिका दोनों को इस पहले खंड में लागू इन सिद्धांतों के प्रति केवल दिखावटी प्रेम नहीं जताना चाहिए, बल्कि उन्हें देश के शासन के मामले में अब से की जाने वाली समस्त कार्यपालिका और विधायिका कार्यवाही का आधार बनाया जाना चाहिए।''

वहीं संविधान सभा में चर्चा के दौरान अम्मू स्वामिनाथन ने ध्यान दिलाते हुए कहा, ''मुझे लगता है कि संविधान वस्तुत: दो स्तंभों पर आधारित होता है - मौलिक अधिकार और राज्य के नीति निदेशक तत्व।''

इसी प्रकार, नवंबर, 1949 में संविधान सभा में संविधान की महत्वपूर्ण विशेषताओं पर चर्चा करते हुए अल्लाडि कृष्णास्वामी अय्यर ने राज्य के नीति निदेशक तत्वों पर अपना मंतव्य दिया। उन्होंने कहा, ''इन अनुच्छेदों में वर्णित विषयों के विस्तृत स्वरूप और इन अनुच्छेदों से संबद्ध विषयों को वादयोग्य बनाने में स्पष्ट कठिनाई के मद्देनजर, उनका वर्गीकरण राज्य के नीति निदेशक तत्वों के रूप में किया गया है। सामाजिक नीति के सिद्धांतों का आधार संविधान की उद्देशिका और उद्देश्यों के प्रस्ताव में निहित है। अनुच्छेद 87 में स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया है कि उसमें निर्धारित सिद्धांत हर स्थिति में देश के शासन के लिए अति महत्वपूर्ण हैं और कानूनों के निर्माण में इन्हें लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा। लोगों के प्रति उत्तरदायी कोई भी मंत्रालय संविधान के खंड 4 के प्रावधानों को किसी भी तरह से नजरअंदाज नहीं कर सकता।''

गांधी की दृष्टि में राज्य के नीति निदेशक तत्व

निदेशक तत्वों के लिए निर्धारित भूमिका की पृष्ठभूमि में, इन सिद्धांतों से संबद्ध अनुच्छेदों में से कुछ का अनुशीलन गांधीवादी दृष्टिकोण से करना जरूरी है। महात्मा गांधी ने स्वतंत्र भारत के लिए एक ऐसी राज्य व्यवस्था की कल्पना की थी, जो लोकतांत्रिक स्व-शासन अथवा स्वराज पर आधारित हो। स्वराज (स्व-राज्य), सर्वोदय (सभी का कल्याण) और स्वावलंबन (आत्मनिर्भरता) को गांधीवादी विचार के बुनियादी सिद्धांत कहा जा सकता है।

उदाहरण के लिए, अनुच्छेद 38 (2) में गांधी के समानता के आर्थिक सिद्धांतों की झलक दिखाई देती है। इसके अनुसार, ''राज्य न केवल लोगों के बीच बल्कि अलग-अलग क्षेत्रों में रह रहे और अलग-अलग व्यवसायों से जुड़े समूहों के बीच भी, विशेष रूप से आय में असमानताओं को कम करने का प्रयास और स्थिति, सुविधाओं तथा अवसरों में असमानताओं को दूर करने का यत्न करेगा।'' महात्मा गांधी अपने जीवनपर्यंत एक अहिंसक आर्थिक व्यवस्था की सिफारिश करते और संरक्षण के महत्व पर जोर देते रहे। स्थिति की समानता के महत्व पर उन्होंने जोर देते हुए कहा, ''मैं स्थिति की एक समानता सुनिश्चित करना चाहता हूँ। इन बीती सदियों में कामगार वर्गों को अलग और बहिष्कृत कर एक निम्न सामाजिक स्थिति में रखा गया है। वे शूद्र रहे हैं, और इस शब्द की व्याख्या एक तुच्छ अवस्था के रूप में की गई है। मैं किसी बुनकर, किसी खेतिहर और स्कूल के किसी अध्यापक के बेटों के बीच किसी भी भेदभाव की छूट नहीं देना चाहता।'' (*हरिजन*, 15.1.1938)

गांधी ने स्पष्टत: कहा कि जब तक कि असमानताएँ दूर नहीं हो जातीं, तब तक कोई राम राज्य संभव नहीं है। उन्होंने कहा, ''आज आर्थिक असमानता की स्थिति भयावह है। आर्थिक समानता समाजवाद का आधार है। अन्यायपूर्ण असमानताओं की मौजूदा अवस्था में, जिसमें गिनती के लोग धन-संपदा में लोट रहे हैं और जनसाधारण को दो जून की रोटी भी नहीं मिल पाती, राम राज्य कतई संभव नहीं है।'' (*हरिजन*, 1.6.1947)

आर्थिक समानता के विचार और समान वितरण का सार बापू के नाना लेखनों और भाषणों में दिखाई देते हैं। यह उनकी एक अहिंसात्मक अर्थव्यवस्था की रूपरेखा थी। एक विस्तृत टिप्पणी में, अपने रचनात्मक कार्य में महात्मा गांधी ने कहा था, ''आर्थिक समानता अहिंसात्मक स्वतंत्रता की सर्व-कुंजी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ पूँजी और श्रम के बीच निरंतर हो रहे संघर्ष को समाप्त करना है। इसका अर्थ एक तरफ उन कुछ अमीरों को सुविधा देना है, जिनके हाथों में राष्ट्र की ज्यादातर संपत्ति केंद्रित है, तो दूसरी तरफ करोड़ों अधभूखे अधनंगे लोगों की संख्या और दुर्दशा में वृद्धि करना है। जब तक अमीरों और करोड़ों भूखों के बीच यह व्यापक खाई बरकरार है, तब तक सरकार का कोई अहिंसात्मक तंत्र निस्संदेह असंभव है। नई दिल्ली के महलों और गरीबों की टूटी-फूटी झोपड़ियों के बीच की यह विषमता एक स्वतंत्र भारत में एक दिन भी बनी नहीं रह सकती, जिसमें देश के अमीर लोगों के समान ही गरीब भी सत्ता का उपभोग करेंगे।''

एक अहिंसात्मक अर्थव्यवस्था की इस विस्तृत परिकल्पना की झलक अनुच्छेद 39 में दिखाई देती है : विशेष रूप से राज्य अपनी नीति को यह सुनिश्चित करने में लगाएगा कि - (क) सभी नागरिकों, पुरुषों और महिलाओं, को आजीविका की एक समुचित आय का अधिकार हो; (ख) समुदाय के भौतिक संसाधनों के स्वामित्व और नियंत्रण के अधिकार का वितरण इस प्रकार हो कि वह लोकहित के अनुरूप हो; (ग) आर्थिक तंत्र का संचालन इस प्रकार न हो कि संपत्ति और उत्पादन के साधन किसी खास वर्ग के हाथों में केंद्रित हों, जिससे आम जन का अहित हो; (घ) पुरुषों और महिलाओं दोनों के लिए समान कार्य के समान वेतन का प्रावधान हो।

सन् 1940 में हरिजन में अपने लेखन में महात्मा ने संपत्ति के समान वितरण के महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला। उन्होंने लिखा, ''समान वितरण के यथार्थ का निहितार्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी सभी प्राकृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन हो, और उससे अधिक कुछ नहीं। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति की पाचनशक्ति कमजोर हो और उसे अपने भोजन के लिए केवल एक चौथाई पाउंड आटे की और किसी दूसरे को एक पाउंड की जरूरत हो, तो दोनों को ऐसी स्थिति में होना चाहिए कि वे अपनी-अपनी जरूरतें पूरी कर सकें। इस आदर्श को साकार रूप देने के लिए समस्त सामाजिक व्यवस्था के पुनर्निमाण की जरूरत है। अहिंसा पर आधारित कोई समाज किसी भी अन्य आदर्श का पोषण नहीं कर सकता। संभव है कि हम लक्ष्य को पूरा न कर सकें, किंतु हमें इसे अपने मन में रखना और इसे हासिल करने

तक निरंतर काम करते रहना चाहिए। जितना हम अपने लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ेंगे, उतना ही हमें संतोष और सुख मिलेगा, और उतना ही हमने एक अहिंसक समाज खड़ा करने में सहयोग किया है।'' (*हरिजन*, 25.8.1940)

गांधी यहाँ अहिंसावादी अर्थव्यवस्था के अपने बोध को संरक्षण के अपने विचार से जोड़ रहे थे। उन्होंने कहा कि संरक्षण के इस आधार पर, अमीर अपनी संपत्ति से बेदखल नहीं होंगे। इसके विपरीत, वे अपनी निजी जरूरतों की सभी वस्तुओं का उपभोग कर सकेंगे और स्वेच्छा से समाज के लिए आवश्यक शेष संपत्ति के एक संरक्षक के रूप में कार्य करेंगे।

अनुच्छेद 40 एक अन्य अनुच्छेद है, जिसमें गांधी के सिद्धांतों की झलक दिखाई देती है। इसके अनुसार : राज्य ग्राम पंचायतों के गठन की व्यवस्था करेगा और उन्हें यथा आवश्यक वे सभी शक्तियां और अधिकार देगा, जिनकी सहायता से वे स्व-शासन की इकाइयों के रूप में कार्य कर सकें। कुंडू एवं शर्मा (2022) ने लोगों के विकास के एक साधन के रूप में ग्राम पंचायतों और समितियों के प्रति गांधी के दृष्टिकोण का उल्लेख किया है। गांधी ने बार-बार कहा था कि भारत को उसके नगरों में नहीं बल्कि उसके गाँवों में देखा जा सकता है। वह ग्राम समुदायों के पुनरुत्थान की हिमायत करते थे। ग्राम स्वराज से उनका तात्पर्य था - 'संपूर्ण गणतंत्र, अपनी अहम आवश्यकताओं के लिए अपने पड़ोसियों से मुक्त किंतु कई अन्य आवश्यकताओं के लिए परस्पर निर्भर, जिसमें निर्भरता आवश्यक होती है'।

गांधी के मूलभूत सिद्धांत में यदि सही अर्थों में गाँवों को मजबूत किया जाना है और यदि ग्राम स्वराज का लक्ष्य पूरा करना है, तो यह आवश्यक है कि गाँव हर संभव तरीके से आत्मनिर्भर हों। उन्होंने कहा, "इस प्रकार, प्रत्येक गाँव एक गणतंत्र अथवा पंचायत होगा, जिसे सभी शक्तियाँ प्राप्त होंगी। इसका अर्थ यह कि प्रत्येक गाँव को आत्मनिर्भर होने के साथ-साथ इस योग्य होना है कि वह समस्त विश्व से अपनी रक्षा करते हुए भी अपने कार्यों का प्रबंधन कर सके। उसे किसी भी आक्रमण से अपनी रक्षा के उसके प्रयास में बचाव के लिए बाहर से प्रशिक्षण देकर तैयार किया जाएगा। इस प्रकार, अंततः, यह व्यक्ति है जो इकाई है। इसमें पड़ोसियों या विश्व पर निर्भरता और उनसे सहायता की इच्छा को अलग नहीं किया जाता। यह शक्तियों का परस्पर स्वतंत्र और स्वैच्छिक व्यवहार होगा। ऐसा कोई समाज निश्चय ही अति सुसंस्कृत होता है, जिसमें प्रत्येक पुरुष और महिला जानता/जानती है कि वह क्या चाहता/चाहती है, यही नहीं, वह यह भी जानता/जानती है कि किसी को भी ऐसी किसी भी चीज की इच्छा नहीं होनी चाहिए, जो समान श्रम वाले अन्य लोगों को नहीं मिल सके।'' (*हरिजन*, 28.7.1946)।

निदेशक तत्वों के अनुच्छेद 43 में उल्लेख है : एक समुचित रहन-सहन और अवकाश तथा सामाजिक व सांस्कृतिक अवसरों का लाभ सुनिश्चित करते हुए, राज्य उपयुक्त कानून अथवा आर्थिक संगठन के जरिए या फिर किसी भी अन्य तरीके से, कृषि, उद्योग अथवा किसी भी अन्य क्षेत्र के, सभी कामगारों को कार्य, निर्वाह मजदूरी व कार्य की शर्तें सुनिश्चित करने का प्रयास करेगा, और, विशेष रूप से, निजी अथवा सहकारी आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने का यत्न करेगा।

इस संदर्भ में, यदि हम गांधीवादी मूलभूत सिद्धांत का अनुशीलन करें, तो पाएँगे कि बापू कुटीर उद्योग को बढ़ावा देने के पक्के हिमायती थे। उनका मानना था कि बेलगाम मशीनीकरण को बढ़ावा देना भारतीय हस्तशिल्प उद्योग के पतन का प्रधान कारण था। अपने मौलिक कार्य हिंद स्वराज में वह लिखते हैं, ''यह मशीन है, जिसने भारत को गरीब कर दिया है। मानचेस्टर ने जो क्षति हमें पहुँचाई है, उसका मूल्यांकन करना कठिन है। मानचेस्टर के चलते ही भारतीय हस्तशिल्प लुप्त हो चुका है।''

वहीं, हरिजन में उन्होंने लिखा था, ''मैं कहूँगा कि यदि गाँव बर्बाद होगा, तो भारत भी बर्बाद होगा। भारत नहीं बचेगा। उसका विश्व में अपना ही लक्ष्य पूरा नहीं हो पाएगा। गाँव का पुनरुद्धार तभी संभव है, यदि उसका कभी शोषण न हो। एक व्यापक स्तर पर उद्योगीकरण से निश्चय ही ग्रामीणों का सहनशील या असहनशील शोषण होगा। इसलिए हमें इस पर ध्यान देना चाहिए कि गाँव मुख्य रूप से उपयोग के लिए निर्माण करते हुए आत्मनिर्भर हों। यदि ग्राम उद्योग के इस रूप को बरकरार रखा जाता है, तो ग्रामीणों को उन आधुनिक मशीनों और उपकरणों का भी उपयोग करने में कोई आपत्ति नहीं होगी, जिनका निर्माण और उपयोग वे कर सकते हैं। हाँ, ध्यान रहे कि उनका उपयोग दूसरों के शोषण के साधन के रूप में नहीं हो।'' (*हरिजन*, 29.8.1936)

गाँवों और ग्रामीण उद्योगों के पुनरुत्थान पर और इस पर कि इनका पूर्ण स्वराज का एक मुख्य अंग होना कैसे आवश्यक है, एक जापानी संवाददाता, जिसने महात्मा से पूछा था कि वह मशीन युग के विरुद्ध हैं या नहीं, के प्रश्न का उत्तर देते हुए, उन्होंने कहा, ''यह कहना मेरे विचारों को हास्यास्पद बनाना है। मैं मशीन के विरुद्ध कतई नहीं हूं, पर यह हमारा स्वामी बन जाए, यह मुझे कतई मंजूर नहीं है।''

जब उस संवाददाता ने उनसे पूछा कि वह भारत को उद्योग प्रधान बनाएँगे या नहीं, तो महात्मा ने जवाब दिया, ''सच कहूँ, तो मैं वस्तुतः बनाऊँगा। ग्राम समुदायों का पुनरुद्धार किया जाना चाहिए। भारत के गाँवों ने भारत के शहरों और नगरों की

प्रत्येक गाँव एक गणतंत्र अथवा पंचायत होगा, जिसे सभी शक्तियाँ प्राप्त होंगी। इसका अर्थ यह कि प्रत्येक गाँव को आत्मनिर्भर होने के साथ-साथ इस योग्य होना है कि वह समस्त विश्व से अपनी रक्षा करते हुए भी अपने कार्यों का प्रबंधन कर सके। उसे किसी भी आक्रमण से अपनी रक्षा के उसके प्रयास में बचाव के लिए बाहर से प्रशिक्षण देकर तैयार किया जाएगा। इस प्रकार, अंततः, यह व्यक्ति है जो इकाई है। इसमें पड़ोसियों या विश्व पर निर्भरता और उनसे सहायता की इच्छा को अलग नहीं किया जाता

सभी आवश्यकताओं को पूरा किया। भारत तब गरीब हो गया जब हमारे नगर विदेशी बाजार बन गए और देश को विदेशों के सस्ते व घटिया सामानों का भंडार बनाकर गाँवों को निचोड़ने लगे।'' (*कलेक्टेड वर्क्स*, 64 : 118)

निदेशक तत्वों के एक और अनुच्छेद 45 में गांधी के विचार की झलक दिखाई देती है। इसमें उल्लेख है : इस संविधान के लागू होने के समय से दस वर्षों के भीतर राज्य बच्चों को उनकी चौदह वर्ष की आयु पूरी होने तक नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा मुहैया कराने का प्रयास करेगा। पहले नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का यह प्रावधान 6 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए किया गया था। किंतु, अनुच्छेद 21-ए के प्रावधानों का क्रियान्वयन सुनिश्चित करने हेतु 86वें संविधान संशोधन अधिनियम 2002 के तहत इसमें संशोधन किया गया, जो शिक्षा के अधिकार को सुनिश्चित करता है।

अपने समस्त जीवन में महात्मा गांधी नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा के प्रबल समर्थक रहे। उनकी योजना सूत कताई आदि जैसे ग्राम हस्तशिल्पों के सहारे प्राथमिक शिक्षा देने की थी। उनका मानना था कि इससे नगरों और गाँवों के बीच एक स्वस्थ और नैतिक आधार कायम होगा। हरिजन में वह लिखते हैं, ''भारत के नि:शुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धांत में मेरा दृढ़ विश्वास है। मेरा यह भी मानना है कि हमारे इस लक्ष्य की पूर्ति बच्चों को एक उपयोगी व्यावसायिक शिक्षा देकर उसका उनकी मानसिक, शारीरिक और आत्मिक शक्तियों के विकास के एक माध्यम के रूप में उपयोग करने से ही हो सकती है। इससे हमारे गाँवों के उत्तरोत्तर होते पतन पर विराम लगेगा और एक निष्पक्ष सामाजिक व्यवस्था की नींव कायम होगी, जिसमें 'समृद्ध' और 'सर्वहारा' वर्गों के बीच कोई अस्वाभाविक दीवार नहीं हो और हर व्यक्ति के लिए निर्वाह मजूदरी व स्वतंत्रता के अधिकार सुनिश्चित हों।'' (*हरिजन*, 9.10.1937)

बापू का धर्मयुद्ध हाशिए के लोगों की सहायता करना और वंचितों को उनकी दासता और गरीबी से मुक्त कराना था। उन्होंने जोर देते हुए कहा कि यदि समाज के अंतिम व्यक्ति को राष्ट्र की मुख्य धारा से बाहर रखा जाता है, तो स्वराज का कोई अर्थ नहीं रह जाता। उनका सूत्र एक ओर जहाँ वह इस भावना को खुलकर स्पष्ट करता है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपने कई लेखनों और भाषणों में इस पहलू की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त, एक कर्मशील व्यक्ति के रूप में, जनमानस के बीच उनके समस्त कार्य में इस संकल्प की झलक दिखाई देती है। उदाहरणस्वरूप यंग इंडिया में, उन्होंने लिखा, ''यदि हम भारत के पाँचवें हिस्से को अपने अधीन, और राष्ट्र की संस्कृति से जानबूझकर वंचित रखना चाहें, तो स्वराज शब्द का कोई अर्थ नहीं रह जाता। शुद्धीकरण के इस महान आंदोलन में हम ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करते हैं, किंतु उसके प्राणियों में सर्वाधिक योग्य प्राणी को मानवीय अधिकारों से वंचित रखना चाहते हैं। स्वयं कठोर होते हुए, हम शासक के समक्ष निर्दयता से अन्य लोगों की मुक्ति की गुहार नहीं कर सकते।'' (*यंग इंडिया*, 25.5.1921)

अनुच्छेद 46 में समाज के कमजोर तबकों के प्रति इस महत संकल्प का विशेष उल्लेख किया गया है, जिसमें कहा गया है कि ''राज्य विशेष सावधानी के साथ लोगों के कमजोर तबकों, और, खास कर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक व आर्थिक हितों को बढ़ावा देगा और सामाज के अन्याय व शोषण के सभी रूपों से उनकी रक्षा करेगा।''

अनुच्छेद 47 एक अन्य अनुच्छेद है, जिसमें गांधी के सिद्धांतों की झलक दिखाई देती है। इसमें उल्लेख है : राज्य अपने प्रधान कर्तव्यों के रूप में अपनी प्रजा के पोषण व रहन-सहन के स्तर के उत्थान और जन स्वास्थ्य में सुधार पर ध्यान देगा और दवा के रूप में उपयोग को छोड़कर उन मादक पेयों व नशीले पदार्थों के सेवन पर रोक लगाएगा, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं।

अपने समस्त जीवन में महात्मा गांधी मद्य-निषेध के समर्थक और शराब व अन्य नशीले पदार्थों के विरोधी रहे। मद्य-निषेध उनके सृजनात्मक कार्यक्रम की एक महत्वपूर्ण विशेषता था। उन्होंने पुरुषों और महिलाओं को इन बुरी आदतों से दूर करने के लिए अहिंसात्मक विधियाँ अपनाने की सलाह दी। मादक पेयों और नशीले पदार्थों के विरुद्ध उनका धर्मयुद्ध अत्यंत मुखर था, उन्होंने एक बार कहा था, ''यदि मुझे एक घंटे के लिए भारत का तानाशाह बना दिया जाए, तो मैं जो पहला काम करूँगा, वह होगा किसी तरह की क्षतिपूर्ति के बिना शराब की सभी दुकानों को बंद करना, और कारखाने के स्वामियों को उनके कामगारों के लिए मानवीय स्थितियाँ पैदा करने तथा अल्पाहार व मनोरंजन हॉल खोलने को विवश करना, जहाँ इन कामगारों को नशामुक्त पेय पदार्थों और पवित्र मनोविनोदों के आनंद का अवसर मिले।'' (*यंग इंडिया*, 25.6.31)

मद्य-निषेध का समर्थन करते हुए गांधी ने बताया कि लोगों के मादक पेयों और नशीले पदार्थों के व्यसन के चलते समाज किस प्रकार बर्बाद हुए। उन्होंने कहा, ''जिस राष्ट्र के लोग शराब के व्यसनी हों, उसकी बर्बादी तय है। इतिहास साक्षी है कि इस व्यसन के चलते अनेकानेक साम्राज्यों का पतन हुआ है। भारत में हम पाते हैं कि श्री कृष्ण जिसके एक सदस्य थे, वह महान समुदाय इस व्यसन के चलते बर्बाद हो गया। यह विकट व्यसन रोम के पतन के कारकों में से एक था।'' (*यंग इंडिया*, 4.4.29)

मादक पेय और नशीले पदार्थों के व्यसन का जन स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है और इसके चलते परिवार के परिवार और समाज के समाज बर्बाद हो जाते हैं, इसके मद्देनजर यदि निदेशक तत्वों में मद्य-निषेध की जरूरत पर बल दिया गया है, तो यह उचित ही है।

गो-रक्षा महात्मा गांधी का एक और महत्वपूर्ण अभियान थी। गाय और उसकी संतति की रक्षा के लिए उन्होंने जनसाधारण से स्थायी और रचनात्मक प्रयास का आह्वान किया। वह एक महत्वपूर्ण रणनीति के रूप में गाय के पालन-पोषण की सहकारी विधि के समर्थक थे और सामूहिक और सहकारी प्रयासों के अभाव को गोधन की बिगड़ती स्थिति का एक मुख्य कारण मानते थे। यहाँ *यंग इंडिया* में बापू के एक आलेख के एक अंश का उल्लेख समीचीन है, ''गोरक्षा हिंदू धर्म का मुख्य तत्व है। मेरी समझ से गाय की रक्षा मनुष्य के विकास की सर्वाधिक उत्कृष्ट परिघटनाओं में से एक है। यह

मनुष्य को उसकी प्रजाति के ऊपर ले जाती है। मेरी नजर में गाय का अर्थ समस्त अवमानवीय संसार है। गाय मनुष्य को अन्य सभी सजीव प्राणियों से अपने तादात्म्य को समझने की प्रेरणा देती है। मैं यह भलीभाँति समझता हूँ कि आदर्श के रूप में गाय को ही क्यों चुना गया। भारत में गाय सर्वोत्तम संगी थी। वह समृद्धिदात्री थी। वह न केवल दूध देती थी बल्कि कृषि को संभव बनाने में भी सहयोग करती थी। गाय करुणा की एक रचना है। इस सुशील प्राणी में किसी व्यक्ति को करुणा दिखाई दे सकती है। वह करोड़ों भारतीयों की माँ है। गाय की रक्षा का अर्थ ईश्वर रचित सभी मूक प्राणियों की रक्षा है। प्राचीन ऋषि-मुनि, वे जो भी रहे हों, गाय को साथ लेकर ही चले। इस निम्न क्रम के प्राणी के प्रति दयाभाव इसलिए भी जरूरी है कि यह मूक है। गोरक्षा विश्व को हिंदू धर्म की देन है। और हिंदू धर्म तब तक कायम रहेगा जब तक कि हिंदू गाय की रक्षा करते रहेंगे...। हिंदू अपने तिलकों से नहीं, मंत्रों के शुद्ध पाठ से नहीं, अपने तीर्थों से नहीं, जाति नियम के निष्ठापूर्वक पालन से नहीं, बल्कि गाय की रक्षा करने की अपनी क्षमता से पहचाने जाएँगे।'' (*यंग इंडिया*, 6.10.1921)

गांधी की परिकल्पना की गोरक्षा की इस भावना को दर्शाते हुए निदेशक तत्वों का अनुच्छेद 48 कहता है : राज्य खास कर कृषि और पशुपालन का आधुनिक और वैज्ञानिक ढर्रे पर संयोजन करने का प्रयास करेगा और नस्लों का संरक्षण करने व उनमें सुधार लाने, और गायों व बछियों-बछेड़ों तथा अन्य दुधारू व वाहक पशुओं की हत्या पर रोक लगाने की दिशा में कदम बढ़ाएगा।

उपसंहार

''मेरी समझ से राजनीतिक सत्ता कोई अंतिम लक्ष्य नहीं बल्कि लोगों को जीवन के हर क्षेत्र में उनकी स्थिति में सुधार लाने के योग्य बनाने का एक माध्यम है। राजनीतिक सत्ता का अर्थ रष्ट्र के प्रतिनिधियों के माध्यम से राष्ट्र के जीवन को नियंत्रित करने की क्षमता है। यदि राष्ट्र का जीवन इतना सुदृढ़ हो जाए कि वह स्व-नियंत्रित हो, तो किसी प्रतिनिधित्व की कोई जरूरत नहीं रह जाएगी। फिर वह एक प्रबुद्ध अराजक राज्य हो जाएगा। ऐसे किसी राज्य में हर व्यक्ति अपना शासक होगा। वह स्वयं पर इस प्रकार शासन करेगा कि उसके पड़ोसी को उससे कभी कोई बाधा न पहुँचे। इस प्रकार, ऐसे आदर्श राज्य में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होगी क्योंकि कोई राज्य नहीं होगा। किंतु जीवन में आदर्श वास्तव में कभी पूरी तरह से सिद्ध नहीं होता। इसलिए थोरियन का वक्तव्य सही है -- वह सरकार सर्वोत्तम सरकार है, जो यथासंभव कम से कम शासन करे।'' (महात्मा गांधी, *यंग इंडिया*, 1.7.31)

यह अध्याय राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों को गांधी के दृष्टिकोण से समझने का एक प्रयास था। प्रयास नीति निदेशक तत्वों के विभिन्न अनुच्छेदों और उनमें गांधीवादी सिद्धांतों की प्रस्तुति की विधि पर विचार करना था। गांधी के सिद्धांतों की रूपरेखा का अनुसरण करते हुए सरकारों का प्रयास सभी को पर्याप्त अवसर प्रदान करना होना चाहिए ताकि लोग इन अवसरों का उपयोग अपनी स्थितियों को बेहतर बनाने में कर सकें। गांधी का मूलभूत सिद्धांत नीति निर्माताओं के लिए उन नीतियों के निर्माण में एक शक्तिशाली पथदर्शी स्तंभ हो सकता है, जिनका लाभ सच्चे अर्थों में समाज के अंतिम व्यक्ति को मिले।

संदर्भ

1. गोयल, अनुराधा; ह्वॉट इज राम राज्य? लेट अस लिसेन टु गोस्वामी तुलसीदास; https://www.anuradhagoyal.com/what-is-ram-rajya-ramcharitmanas-tulsidas/ (1 मार्च, 2022 को पुन: प्रस्तुत)
2. कुंडू, वेदाभ्यास एवं शर्मा, मानसी (2022); *दि सिग्निफिकैंस ऑव डाइरेक्टिव प्रिंसिपल्स ऑव स्टेट पॉलिसी फ्रॉम दि गांधियन लेंस इन दि कंटेंपरेरी टाइम्स*; https://vedabhyas.medium.com/the-significance-of-directive-principles-of-state-policy-from-the-gandhian-lens-in-the-contemporary-c6af6de03a1a; (8 अप्रैल, 2022 को पुन: प्रस्तुत)।

पाठ्य सामग्री

- एंड्र्यूज, सी.एफ. (1930), *महात्मा गांधी'ज आइडियाज*, न्यू यॉर्क, मैकमिलन।
- बंद्योपाध्याय, जे. (1969)। *सोशल एंड पॉलिटिकल थॉट ऑव गांधी*, बॉम्बे, एलाइड पब्लिशर्स
- भट्टाचार्य, बी. (1969); इवॉल्यूशन ऑव दि पॉलिटिकल फिलॉसॉफी ऑफ गांधी, कलकत्ता बुक हाउस।
- बांड्युरैंट, जे. वी. (1967); कंक्वेस्ट ऑव वॉयलेंस : गांधियन फिलॉसॉफी ऑव कॉन्फ्लिक्ट, बर्कले, यूनिवर्सिटी प्रेस, कैलिफोर्निया।
- चटर्जी, एम. (1983); *गांधी'ज रेलिजियस थॉट*, लंदन, मैकमिलन।
- डाल्टन, डी. (1982); *इंडिया'ज आइडिया ऑव फ्रीडम*, गुरगाँव, अकादमिक प्रेस।
- गांधी, महात्मा। (1927); *एन ऑटोबायॉग्राफी : दि स्टोरी ऑव माइ एक्सपेरिमेंट्स विथ ट्रुथ*; नवजीवन पब्लिशिंग हाउस।
- गांधी, महात्मा (1947); *इंडिया ऑव माइ ड्रीम्स*; नवजीवन पब्लिशिंग हाउस
- गांधी, महात्मा (1938); *हिंद स्वराज : ऑर, इंडियन होम रूल*, अहमदाबाद : नवजीवन पब्लिशिंग हाउस।
- अय्यर, आर. एन. (1973); *दि मोरल एंड पॉलिटिकल थॉट ऑफ गांधी*, बॉम्बे, ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय प्रेस।
- किंग, मेरी (1999); *महात्मा गांधी एंड मार्टिन लूथर किंग जू. : दि पॉवर ऑव नॉनवायॉलेंट एक्शन*; यूएनईएससीओ पब्लिशिंग, 1999।
- कुमार, नरेंदर। (2012); *कॉन्स्टिट्युशनल लॉ ऑफ इंडिया*, दिल्ली, इलाहाबाद लॉ एजेंसी।
- पैंथम, टी एवं डॉयच्च, के. (1986); *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, सेज।
- पारेख, बी. (1989); *गांधी'ज पॉलिटिकल फिलॉसफी*, नॉत्रे दाम, नॉत्रे दाम विश्वविद्यालय प्रेस।
- तरुणाभ खेतान, *डाइरेक्टिव प्रिंसिपल्स एंड दि एक्सप्रेसिव एकोमोडेशन ऑफ आइडियॉलॉजिकल डिसेंटर्स*, इंटरनेशनल जर्नल ऑव कॉन्स्टिट्युशनल लॉ, खंड 16, 16, अंक 2, अप्रैल 2018, पृष्ठ 389-420, https://doi.org/10.1093/icon/moy025.
- वुडकॉक, जी. (1971); *मोहनदास गांधी*, न्यू यॉर्क, फांटाना।

डॉ. ज्योति किरण शुक्ला

निदेशक तत्व एवं स्त्री सशक्तीकरण : एक समानांतर विमर्श

हमारे समाज के लिए लैंगिक समानता कोई नई बात नहीं है और न ही यह हमारे संविधान के अंतर्गत राज्य के नीति निदेशक तत्वों में कहीं और से उधार ले ली गई है। वास्तव में यह हमारे लिए एक पारंपरिक मूल्य है। एक यथार्थपरक अध्ययन

यह आलेख कल्याणकारी राज्य में महिलाओं के समावेशन और सहभागिता तथा निर्देशक सिद्धांतों के विषय पर एक वैकल्पिक विमर्श प्रस्तुत करता है। महिला अधिकारिता की बाध्यताओं को स्पर्श करते हुए, यह राज्य के नीति निदेशक तत्वों के संदर्भ में इस प्रक्रिया की चुनौतियों और रिक्तताओं पर प्रकाश डालता है। इसका सशक्त तर्क है कि राज्य के नीति निदेशक तत्वों की संकल्पना वस्तुतः आयरिश संविधान से उधार ली गई संकल्पना मात्र नहीं है, वरन यह उस कल्याणकारी राज्य की स्थापना के विचार से उद्भूत है जो एक सभ्यातागत समाज से विकसित हो रहा था और जिसमें मौलिक और पारंपरिक रूप से लैंगिक समानता और न्याय पहले से ही स्वीकृत मानदंड थे। इस अर्थ में, संविधान निर्माता लोक कल्याण के लिए लोक नीति आधारित राज्य धर्म के पारंपरिक सिद्धांतों को पुनः उद्घाटित करते प्रतीत होते हैं। शासन के इस मॉडल में महिलाएँ मुख्य भाष्य की सहायक संबद्ध के रूप में नहीं हैं, अपितु बराबर की भागीदार के रूप में विकास नीति की प्रक्रिया के केंद्र में हैं।

परन्तु सिद्धांत और क्रियान्वयन के मध्य अंतर स्पष्ट है। स्वतंत्रता के 70 वर्ष के पश्चात प्रभाव या परिणाम का मूल्यांकन यह संकेत करता है कि नीति के ढाँचे के, कल्याणकारी राज्य के वस्तुनिष्ठ कार्य के साथ पुनर्सामंजस्य हेतु एक गहरी समीक्षा की आवश्यकता है क्योंकि महिलाएँ अभी भी समान रूप से विकास के सुफल प्राप्त नहीं कर रहीं हैं। समावेशन अभी भी एक चुनौती है। डिजिटल और तकनीकी विभाजन एक सच्चाई है । ऐसे ही आर्थिक और सामाजिक असमानता भी है। अतः, अंतर को पहचानना चाहिए। विसंगतियों को निर्बद्ध करना चाहिए और प्रक्रियाओं पर पहले बौद्धिक तथा अकादमिक स्थलों पर प्रश्न करना चाहिए, फिर विधायिकाओं में - राज्य के नीति निदेशक तत्वों की भावना को एक ऐसे कल्याणकारी राज्य में परिवर्तित करने के बारे में जहाँ महिलाओं को न केवल विकास की भागीदार माना गया था, वरन उन्हें शक्ति के स्रोत, जो कि विकास का इंजन है - नारी शक्ति के रूप में, भी देखा गया था।

प्रस्तावना

जनता और शासकीय प्रक्रियाओं तथा उनके संवैधानिक अधिकारों के संबंधों की समीक्षा के लिए राज्य की कार्यप्रणाली व उसके मार्गदर्शक सिद्धांतों के संबंध में अनुसंधान एक महत्वपूर्ण आयाम है। अच्छा होगा यदि यह लैंगिक दृष्टि से किया जाए। यह आलेख ऐसी ही एक पहल है।

निदेशक तत्वों पर विमर्श, बिना पूर्ण सांदर्भिक समझ के, उनकी सटीक व्याख्या की सैद्धांतिक चुनौती प्रस्तुत करता है। एक परिधीय और सामान्य टिप्पणी इस निष्कर्ष पर ले जाएगी कि राज्य के नीति निदेशक तत्व आयरिश संविधान के अनुच्छेद 45 से अभिप्रेरित थे, जहाँ उन्हें मुख्यतः राज्य नीति के निदेशक तत्वों के रूप में जाना गया था, और जो अधिकतर नागरिकों के आर्थिक अधिकारों से संबंधित थे। लेकिन उनका देशी संस्करण बहुत व्यापक, समग्र होने के साथ ही उन सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को भी सम्मिलित किए था जिन्हें समाजवादी, उदारवादी और गांधीवादी विचारों के समावेशन के सोद्देश्य चयन के रूप में चिन्हित किया गया था। यह पुनः एक लोकप्रिय संभ्रम है।

फिर भी, भारतीय संविधान में शासन के आधारभूत निदेशक के रूप में सम्मिलित करने के विचार से इनके उद्भव का गहन विश्लेषण एक

अलग ही दृश्य प्रस्तुत करता है। संविधान निर्माताओं की मंशा कल्याणकरी राज्य को निर्देशित करने के लिए एक ढीले, असुरक्षित, अधीनस्थ और उधार के सिद्धांतों को सम्मिलित करने की नहीं थी, इसके विपरीत वे शासन के श्रेष्ठतम सिद्धांतों की अवधारणा अर्थात राज्य धर्म को सम्मिलित करना चाहते थे, मंशा थी नीति निर्माता और क्रियान्वयन की इकाइयों, दोनों को शासन के निर्देशक सिद्धांत प्रदान करने की। वे एक सभ्यतागत राष्ट्र से विकसित की जाने वाली राजव्यवस्था हेतु मार्गदर्शक सिद्धांतों के एक आदर्श समुच्चय की आवश्यकता को भलीभाँति समझते थे। अत: मंशा थी सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों को सम्मिलित करने की जिन्हें विधायन और अभ्यास द्वारा शासन में सम्मिलित किया जाए।

यह आश्चर्यजनक है कि इन पहलुओं पर अकादमिक विमर्शों में कभी प्रकाश ही नहीं डाला गया। क्या यह किन्हीं निश्चित कारणों से था? यह प्रश्न मैं उत्तर के लिए आप के ऊपर छोड़ती हूँ। जहाँ राज्य के नीति निदेशक तत्वों के स्वरूप और कार्यक्षेत्र, और उनके अनुमानित उद्भव पर लंबी-चौड़ी टिप्पणियाँ की गई, वहीं उनके पीछे की सांस्कृतिक प्रेरणा और मूल्य व्यवस्था पर, जो कि विशुद्ध भारतीय हैं, कुछ नहीं लिखा गया। समकालीन साहित्य में उनके ऊपर एक शब्द भी नहीं है। न ही संविधान सभा द्वारा उनको दिए गए अत्यधिक महत्व पर कोई ठोस चर्चा है।

अपनी बात के समर्थन में मैं संविधान सभा की 19 नवंबर 1948 को हुई बहस को रेखांकित करती हूँ। काजी सैयद करीमुद्दीन ने एक संशोधन प्रस्तुत किया कि भाग 4 के तहत शीर्षक से निदेशक शब्द हटा दिया जाए। संशोधन के समर्थन में वे कहते हैं, "ज्यादा अच्छा होता कि श्री कामथ का संशोधन भी उस संशोधन के साथ लिया जा सकता जो मैंने भाग 4 से निदेशक तत्वों के प्रावधान को हटाने के लिए प्रस्तुत किया है, यह बहुत जरूरी भी है क्योंकि वे समान नागरिक संहिता तथा आर्थिक ढाँचे और अन्य कई आधारभूत मामलों से संबंधित हैं। निदेशक तत्वों का अर्थ है कि वे राज्य के लिए बाध्यकारी नहीं होंगे और न ही किसी मामले में न्यायालय द्वारा प्रवर्तित कराए जा सकते हैं। मेरा निवेदन है कि यदि संविधान इन सिद्धांतों को न्यायालयों द्वारा प्रवर्तन हेतु निरूपित नहीं कर रहा है, यदि ये राज्य के लिए बाध्यकारी नहीं हैं, तो ये अर्थहीन हैं।"

आगे वे डॉ. अंबेडकर को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि इन सिद्धांतों को संविधान में मौलिक अधिकारों के रूप में सन्निहित किया जाना चाहिए, और इन सिद्धांतों के साथ एक ऐसी योजना हो कि ये आगामी 10 वर्ष के भीतर कार्यरूप में आ जाएंगे। निर्धारित कालखंड का यह प्रावधान इसे प्रगतिशील और ऊर्जावान बनाने की संविधान निर्माताओं की मंशा प्रकट करता है।

इसी बहस में श्री कामथ अपना संशोधन यह कहते हुए प्रस्तुत करते हैं कि भाग 4 के शीर्षक में शनिदेशकश शब्द को 'मौलिक' शब्द द्वारा प्रतिस्थापित किया जाए। इसके लिए वे दो कारण देते हैं। "हमें बताया गया है कि प्रारूप संविधान के भाग 3 और 4 में कुछ अधिकार सन्निहित किए गए हैं। भाग 3 में न्याय्य अधिकार हैं जबकि भाग 4 में गैर-न्याय्य अधिकार हैं, किंतु दोनों को ऐसे अधिकारों के रूप में देखा या माना गया है कि वे मौलिक हैं।

उन्हें आगे चलकर माननीय सरदार पटेल की रिपोर्ट से समर्थन मिलता है जिसे सभा में अगस्त 1947 में प्रस्तुत किया गया था। समिति की रिपोर्ट को पढ़ते हुए वे कहते हैं, "हम यहाँ एक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं", यहाँ से हमारा अर्थ मौलिक अधिकारों पर परामर्शदात्री समिति से है, "कि मौलिक अधिकारों के अतिरिक्त संविधान में कतिपय राज्य के नीति निदेशक तत्व भी सम्मिलित हों जो यद्यपि किसी नयायालय में संज्ञेय नहीं होंगे, तथापि वे देश के शासन में आधारभूत माने जाने चाहिए।" सरदार पटेल की अध्यक्षता वाली इस समिति की रिपोर्ट की कार्यालय पुस्तिका इन अधिकारों को, जो अब संविधान के भाग 4 में सम्मिलित हैं, 'शासन के सिद्धांत' का शीर्षक देती है। "यह प्रबलता

साभार : https://www.istockphoto.com

से कहने का विषय है।"

"मैं डॉ. अंबेडकर प्रारूप समिति से ये जानना चाहूंगा कि उन्होंने इन अधिकारों को सरदार पटेल द्वारा प्रदत्त शीर्षक से अलग क्यों किया? समिति ने इन्हें शासन के मौलिक सिद्धांतों का शीर्षक दिया था जबकि प्रारूप समिति ने इसे बदलकर राज्य के नीति निदेशक तत्व कर दिया," श्री कामथ कहते हैं। यह निश्चित रूप से एक रोचक परिप्रेक्ष्य है जो अभी तक अन्वेषित नहीं किया गया है।

मौलिक स्तर पर इनका विचार और संरचना राजधर्म के रूप में की गई थी क्योंकि मौलिक अधिकारों पर समिति इन्हें शासन के सिद्धांतों के मूल्य-ढाँचे के रूप में प्रतिस्थापित करना चाहती थी।

डॉ. बी. आर. अंबेडकर का उत्तर उपरोक्त विचारों की और अधिक पुष्टि करता है। "इस भाग की यह मंशा नहीं है कि ये सिद्धांत मात्र पावन उदघोषणाएँ हैं। इस सभा की यह मंशा है कि भविष्य में विधायिका और कार्यपालिका इस भाग में अधिनियमित सिद्धांतों को मात्र जबानी जमा-खर्च के रूप में न ले, वरन अभी के बाद से इन्हें इस देश के शासन से संबंधित सभी कार्यकारी और विधायी कार्यों का आधार बनाना चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य में, हम इन्हें देश की सामूहिक इच्छा के आदर्श लक्ष्यों के रूप में पाते हैं।

दिशा और क्षेत्र

राज्य के नीति-निदेशक तत्व भारत के संविधान के भाग 4 (अनुच्छेद 36-51) में समाहित हैं। जैसा कि उल्लेख किया गया है, अनुच्छेद 37 इसके अनुप्रयोग का संकेत करता है। भारत को एक कल्याणकारी राज्य के रूप में स्थापित करने के लिए, इनका लक्ष्य इस सभ्यतागत राष्ट्र, जो एक आधुनिक राज्य के रूप में भी पुनर्गठित किया जा रहा था, के लिए एक सशक्त सांस्कृतिक संदर्भ के साथ सामाजिक और आर्थिक न्याय सुनिश्चित करना है। मौलिक अधिकारों से भिन्न इनका दायरा व्यापक और विस्तृत है, और सभ्यतागत राज्य के व्यापक संदर्भ में विधायिका या राज्य द्वारा लोक कल्याण नीति की स्थापना हेतु ये राज्य धर्म को प्रतिध्वनित करते प्रतीत होते हैं। अत: ये मूल्यजनित और सकारात्मक हैं। यद्यपि ये विधि द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं तथापि ये मौलिक अधिकारों के अधीनस्थ नहीं हैं।

इस प्रकार, यद्यपि राज्य के नीति-निदेशक तत्वों का लोकप्रिय वर्गीकरण समाजवादी, गांधीवादी और उदारवादी के रूप में जाना जाता है तथापि मेरे विचार से ये हमारे सभ्यतागत राष्ट्र-राज्य, जिसे संविधान निमाताओं ने समय की आवश्यकताओं के अनुरूप आधुनिक संदर्भ में पुनर्निर्मित किया है, के सांस्कृतिक संदर्भ में राज्य धर्म या शासन के मूल्यों के एकीकृत समुच्चय हैं।

महिला सशक्तीकरण - स्थितिजन्य विश्लेषण

यदि संविधान ने सामाजिक और आर्थिक अधिकारों में समानता दी है तो विकासात्मक परिणाम पुरुषों और महिलाओं के लिए समान होने चाहिए। यह ध्यान देने योग्य है कि संविधान सभा में शामिल महिलाओं ने समानता के लिए लिंग आधारित आरक्षण की कभी वकालत नहीं की। यह उनके महिला सशक्तीकरण हेतु विधायिका के परिवर्तनकारी उपकरणों के रूप में होने के निहित विश्वास को दर्शाता है। किंतु वास्तव में क्या हुआ, ये थोड़ा निराशाजनक है।

स्थितिजन्य विश्लेषण के निमित्त विकासात्मक लाभों के रूप में विधायिका के परिणामों का आइए हम विश्लेषण करते हैं। विधायन और क्रियान्वयन के साथ-साथ कल्याण-मानकों के परिणामों को देखते हुए स्वतंत्रता के बाद भारतीय महिलाओं की स्थिति को समान नहीं कहा जा सकता है। आइए हम एक सरसरी दृष्टि डालते हैं। जैसा कि पहले उल्लिखित है, सभी महत्वपूर्ण अध्ययनों (भारत में महिलाओं पर उच्चस्तरीय समिति रिपोर्ट, 2015, महिलाओं की स्थिति पर दृष्टि (Drishti) की रिपोर्ट, 2020),के साथ अनेक लेखों ने भी, शासन की सकारात्मक गतिविधियों और हस्तक्षेप के बावजूद, असमानता, भेदभाव, हाशिए पर लाने और व्यवस्थित पक्षपात को उजागर किया है।

स्त्री श्रम शक्ति की भागीदारी, जो कि 80 के दशक के आरंभ से ही मेरी रुचि का क्षेत्र रहा है, में भारत 131 देशों में 120वें स्थान पर है। जीडीपी के लगभग 18% के साथ भारत की महिलाओं का आर्थिक योगदान विश्व योगदान के आधे से भी कम है। चीन में यह 40% है। विश्व बैंक के एक अध्ययन के अनुसार, भारत अपनी आर्थिक वृद्धि को प्रति वर्ष 1.5 से 9% तक बढ़ा सकता था, बशर्ते महिलाएँ श्रम शक्ति में बराबर की भागीदारी कर सकतीं। एक अनुमान के अनुसार, 2025 तक भारत की अर्थव्यवस्था में 60% की अतिरिक्त वृद्धि हो सकती थी अर्थात 2.93 खराब और जुड़ सकता था, यदि महिलाएँ औपचारिक अर्थव्यवस्था में बराबरी पर होतीं।

कोविड ने काम की उपलब्धता और भागीदारी में इस असमानता और भेदभाव को और अधिक दृश्यमान, मुक्त और ज्वलंत बना दिया। कोविड के उपरांत महिला श्रम बल भागीदारी 16% तक कम हो गई जो कि 2017-18 में 22%, 2018-19 में 23% और 2019-20 में 28.7 प्रतिशत थी।

सरकारी कार्यालयों के विविध क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति और प्रतिनिधित्व का अध्ययन करने पर और अधिक निराशा होती है। 17वीं लोकसभा की कुल सीटों में केवल 14.92% महिलाएँ हैं जबकि राज्यसभा में केवल 11.8%। राज्य विधानमंडलों में महिला भागीदारी मात्र 8% है। कतिपय प्रमुख पदों पर होने के बावजूद, केंद्रीय मंत्रिपरिषद में महिलाओं का कुल प्रतिनिधित्व 2015 में 13.8% से 2019 में 11.8% तक गिरा है। न्यायपालिका में भी महिलाओं का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं है। यह प्रश्न भी उचित है कि क्या केवल प्रतिनिधित्व से समानता सुनिश्चित हो जाएगी। यह महत्वपूर्ण और सार्थक भी है क्योंकि पंचायतों में मेरा अनुभव यह स्पष्ट करता है कि जहाँ महिलाओं के लिए प्रतिनिधित्व आरक्षित था, वहाँ भी सरपंच पति ही सारी गतिविधियों का संचालन कर रहे हैं। किंतु यह अधिक मौलिक बहस है कि केवल प्रतिनिधित्व ही भेदभाव और असमानता की समस्या को समाप्त नहीं कर रहे हैं, फिर भी इस संकेत के लिए काफी साक्ष्य हैं कि यदि प्रतिनिधित्व को क्षमता निर्माण और धारणीयता के साथ जोड़ दिया जाए तो विकास के परिणामों को साझा करने के नतीजे अधिक श्रेष्ठ होंगे। इसलिए, राज्य के नीति निदेशक तत्वों के अनुसार क्षमता निर्माण और धारणीयता, लैंगिकता को मुख्यधारा में लाने के मुख्य

लक्ष्य होने चाहिए। क्या प्रत्येक नीति के पहले लैंगिक लेखा परीक्षण किया जाता था। उत्तर स्पष्ट है।

महिलाओं के विरुद्ध अपराध एक गंभीर विषय है। 2019 और 2020 में महिलाओं के विरुद्ध अपराधों के दर्ज कुल मामले क्रमश: 405326 तथा 371503 रहे हैं। कोविड के कारण घरेलू हिंसा के मामले बढ़े हैं। यद्यपि स्थिति विश्लेषण पर और अधिक विवेचना इस लेख के दायरे से परे है, फिर भी महिलाओं के विरुद्ध अपराध अधिकतर राज्यों में बढ़े हैं। उद्यमिता आर्थिक सशक्तीकरण की ओर ले जाती है। भारतीय अर्थव्यवस्था में सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम (एमएसएमई) अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। किंतु भारत में कुल 6946895 पंजीकृत इकाइयों में केवल 119989 ही महिलाओं द्वारा चलाई जाती हैं।

अत: जब बात विकास, तकनीक, वृद्धि और समृद्धि के परिणामों की आती है तो दुर्भाग्य से महिलाएँ पिरामिड के निचले सिरे पर ही रहती हैं। जब शासन के सिद्धांतों का लक्ष्य ऐसी विधि निर्माण का है जिनमें लैंगिक समानता और गैर-भेदभाव समाहित हों तो अपेक्षित परिणाम की फलश्रुति इसके विपरीत क्यों हैं? क्या सामाजिक और आर्थिक अधिकारों से संबंधित संविधान के मार्गदर्शक सिद्धांतों और उनके क्रियान्वयन में कोई अंतर है या यह केवल क्रियान्वयन का ही मुद्दा है? यह एक जटिल प्रश्न है जिसके लिए व्यापक विश्लेषण की आवश्यकता है परंतु जिसे समकालीन बौद्धिक विमर्श में कुशलता से टाला गया है।

इस लेख के माध्यम से मैं इस मुद्दे को भी उजागर करना चाहती हूँ कि एक सभ्यतागत राष्ट्र में जहाँ महिलाओं को परंपरागत रूप से उपनिषद और वैदिक काल में समान स्थान और अधिकार प्राप्त थे, और विदेशी आक्रमणों और अंध काल से पहले उन्हें धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, फिर उसी समाज ने उन्हें दूसरे दर्जे के नागरिक की भूमिका में कैसे ला दिया, यह ऐतिहासिक अन्वेषण का विषय होना चाहिए। शक्ति कैसे गरीबी और दमन में परिवर्तित हुई, इसका पता लगाया जाना चाहिए। यह दुर्व्यवस्था हिंदू समाज के लिए स्वाभाविक नहीं थी वरन ऐतिहासिक कारणों द्वारा थोप दी गई। ये शक्तियाँ कौन थीं और पक्के तौर पर ऐसा कैसे हुआ, यह चिंता और वस्तुनिष्ठ विश्लेषण का विषय होना चाहिए। बहुत कुछ पता लगाया जाना है कि ये घटनाएँ कैसे समाज में संरचनात्मक बन गईं और कैसे इन संरचनात्मक विशिष्टताओं ने असमान हिंदू/भारतीय समाज की कहानी संबंधित पूरे पश्चिमी विमर्श को निर्देशित किया! एक ऐसा आख्यान जो वास्तविकता का विकृत रूप था। ये बातें इस लेख के दायरे से परे हैं फिर भी मैं भविष्य की चर्चाओं के लिए इस मुद्दे को उठाना चाहती हूँ। मेरा मत है कि संविधान निर्माताओं ने भारत में महिलाओं की समान स्थिति को मान्यता दी (सांस्कृतिक रूप से) और तदनुसार राजव्यवस्था और अर्थव्यवस्था के विविध स्तरों पर समान भागीदारी का खाका तैयार किया। फिर भी वे विद्यमान भेदभाव और असमानता के प्रति जागरूक थे और इसलिए उनका बल सुधारात्मक कार्रवाई पर था जो राज्य के नीति निदेशक तत्वों में परिलक्षित होता है।

यहाँ कुछ परेशान करने वाले तथ्य हैं और जिनके लिए अकादमिक विमर्श में एक सार्थक बहस की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, हमारी सभ्यता में महिलाओं के विरुद्ध अंतर्निहित विभेद की धारणा, पश्चिमी शिक्षाविदों और इतिहासकारों द्वारा चित्रित और बेची गई एक लोकप्रिय अवधारणा है जो तथ्य और वास्तविकता से बहुत दूर है और इसकी गंभीर जाँच की आवश्यकता है।

मैं यहाँ जिस बिंदु को बताना चाहती हूँ वह यह है कि संविधान में लिंग समानता के पीछे की प्रेरणा पश्चिम में इस विषय पर दिए गए समकालीन ध्यान के बजाय सभ्यतागत कारणों की अधिक थी। यही कारण है कि निदेशक तत्व अपने आयरिश समकक्ष की तुलना में सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों को शामिल करने की दृष्टि से अधिक व्यापक हैं, साथ ही सबलता में और उनकी प्रकृति में, जिसे अनिवार्य माना गया था। निश्चित रूप से इसका कारण हमारे सभ्यतागत राष्ट्र के सांस्कृतिक मूल्य हैं जिन्होंने आत्मा/जीव की समानता स्वीकार की, स्त्री और पुरुष को पूरक के रूप में शक्ति और शिव के समान माना। और इन दोनों शक्तियों में एक अंतर्निहित संतुलन भी मानता है तथा कल्याण के लिए इस समेकित नीति के मार्गदर्शक के नाते धर्म को मानता है। इस प्रकार हमारे संविधान में राज्य के नीति निदेशक तत्वों और अंतर्निहित लैंगिक समानता के सम्मिलन के बारे में एक वैकल्पिक विमर्श निश्चित रूप से विद्यमान है।

एक सभ्यतागत राष्ट्र में जहाँ महिलाओं को परंपरागत रूप से उपनिषद और वैदिक काल में समान स्थान और अधिकार प्राप्त थे, और विदेशी आक्रमणों और अंध काल से पहले उन्हें धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, फिर उसी समाज ने उन्हें दूसरे दर्जे के नागरिक की भूमिका में कैसे ला दिया, यह ऐतिहासिक अन्वेषण का विषय होना चाहिए। शक्ति कैसे गरीबी और दमन में परिवर्तित हुई, इसका पता लगाया जाना चाहिए। यह दुर्व्यवस्था हिंदू समाज के लिए स्वाभाविक नहीं थी वरन ऐतिहासिक कारणों द्वारा थोप दी गई

महिला, असमानता और राज्य के नीति निदेशक तत्व

जैसा कि पहले के पैराग्राफ में वर्णित है, लिंग आधारित असमानता प्राचीन भारत के आदर्श सामाजिक वातावरण से अलग एक विकृति हो सकती है लेकिन आज के समाज में यह वास्तविक है। पूर्व के पैराग्राफ में प्रस्तुत आँकड़े दर्शाते हैं कि कल्याणकारी राज्य में महिला समान रूप से लाभार्थी नहीं रही हैं। यहाँ तक कि कुछ वर्ष पूर्व तक लिंग अनुपात भी चिंता का विषय था। अपनी उत्पादक और प्रजनन भूमिकाओं के बावजूद, अभी तक उनका विकास की प्रक्रिया में पूर्ण क्षमता के साथ सहभाग करना और कल्याणकारी राज्य

के लाभों को समान रूप से प्राप्त करना बाकी है।

इस प्रकार, विधायन और शासन के मार्गदर्शक सिद्धांत महत्वपूर्ण हो जाते हैं। ऊपर से तो केवल अनुच्छेद 39 और 42 ही महिलाओं के मुद्दों को प्रत्यक्ष रूप से स्पर्श करते प्रतीत होते हैं किंतु मेरे विचार से राज्य के नीति निदेशक तत्वों के अन्य प्रावधान भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से महिलाओं की समानता, कल्याण और विकास से संबंधित हैं।

उदाहरण के लिए, महिलाओं की एक विशाल जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। अत: वैज्ञानिक तरीके से की जाने वाली कृषि और पशुपालन और उससे संबंधित भूमि सुधार और सहकारी-कृषि से जुड़ा अनुच्छेद 48 निश्चित रूप से महिलाओं की लाभप्रद गतिविधियों और कल्याण पर प्रभाव डालता है। इस प्रकार गणना के पूर्वाग्रह को हटाने के लिए क्या हमें महिलाओं के काम को अलग ढंग से परिभाषित नहीं करना चाहिए? ये ऐसे बड़े सवाल हैं जिन्हें नीति को निर्देशित करना चाहिए। इसी तरह, शिक्षा के अधिकार से संबंधित अनुच्छेद 45 लड़कियों के बेहतर नामांकन को सुनिश्चित करता है और इस प्रकार महिला शिक्षा को बढ़ावा देता है जो उनकी कमाई करने की क्षमता और आर्थिक सशक्तीकरण का निर्धारण करने वाला एक महत्वपूर्ण चर है। अध्ययनों से संकेत मिलता है कि पर्यावरणीय क्षरण पूरी दुनिया में महिलाओं की भलाई को काफी हद तक प्रभावित करती है। इस प्रकार, पर्यावरण सुरक्षा से संबंधित अनुच्छेद परोक्ष रूप से महिलाओं के आर्थिक सशक्तीकरण को सुनिश्चित करता है। अपने कार्यान्वयन की सभी चुनौतियों और विकृतियों के बावजूद, जिन्हें वर्तमान मोदी सरकार के अनेक सुधारों द्वारा काफी हद तक हल कर लिया गया है, मनरेगा, 2006 ने संकटपूर्ण स्थिति में महिलाओं के लिए भी लाभकारी रोजगार सुरक्षित किया है। नि:संदेह, समान काम के लिए समान वेतन व मातृत्व लाभ अधिनियम का सीधा लाभ महिलाओं को हो रहा है। फिर भी हम अनुभव करते हैं कि यदि राज्य के नीति निदेशक तत्वों को समग्र रूप से लागू किया जाता है तो वे पुरुषों की तुलना में महिलाओं को अधिक लाभान्वित करेंगे क्योंकि वैश्वीकृत दुनिया में बाजार की ताकतें और अनिश्चितताएँ महिलाओं को अधिक तेजी से प्रभावित करती हैं, फिर भी एक सुरक्षात्मक तंत्र की आवश्यकता है। एक सरल लेकिन स्पष्ट उदाहरण हाल ही की वैश्विक महामारी है। कोविड ने मानव जाति को प्रभावित किया, फिर भी सबसे बुरा प्रभाव महिलाओं के पोषण, रोजगार, घरेलू हिंसा और बढ़े हुए घरेलू और अवैतनिक काम पर पड़ा। आधी दुनिया 20 साल पीछे चली गई। राज्य के नीति निदेशक तत्वों को समावेशी बहाली के लिए और एसडीजी के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए मार्गदर्शक मानक होना पड़ेगा। इसलिए, यदि सामाजिक-आर्थिक लैंगिक न्याय को ही राज्य धर्म बनाना है, तो विधायन, निष्पादन और संपूर्ण प्रक्रिया की धारणीयता में राज्य के नीति निदेशक तत्वों को आत्मसात करने के लिए पूरे मन से प्रयास की जरूरत है। पुनश्च, बहाली और एसडीजी के नवीकृत प्रसंग में अभी इसकी बहुत अधिक आवश्यकता है।

कुछ विलक्षण उपलब्धियाँ

वैसे तो सभी सरकारें जनकल्याण के लिए शासन करती हैं फिर भी हम देखते हैं कि मोदी सरकार में महिलाओं के विकास की दिशा में एक प्रतिमान बदलाव (paradigm shift) हुआ है। पहली बार अधिकार आधारित नारीवादी-उन्मुख दृष्टिकोण से संस्कृति केंद्रित मातृशक्ति दृष्टिकोण की ओर स्पष्ट प्रस्थान देखा जाता है। केंद्र सरकार की प्रमुख नीतियाँ राज्य के नीति निदेशक तत्वों के साथ मिलकर, लेकिन अधिक महिला केंद्रित दृष्टिकोण के साथ, कार्य करती प्रतीत होती हैं। प्रधानमंत्री मोदी महिलाओं के नेतृत्व वाले विकास के बारे में अक्सर बोल चुके हैं। और नीतियों ने उनकी दृष्टि को वास्तविकता में बदल दिया है। उद्धृत करने के लिए कुछ उदाहरण: बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ आंदोलन जिसने इतनी छोटी अवधि में लिंगानुपात को प्रति 1000 पुरुषों पर 1020 महिलाओं के रूप में बदल दिया है। प्रत्येक घर में शौचालय जिससे मुख्य रूप से महिलाओं को लाभ हुआ है। उज्ज्वला योजना जो न केवल स्वच्छ ऊर्जा की ओर एक निडर कदम है, वरन करोड़ों महिलाओं के स्वास्थ्य, आर्थिक गतिविधि और सामान्य भलाई में भी सहायक है।

मातृ वंदना से लेकर स्टैंड अप इंडिया तक महिला प्रधान योजनाएँ राज्य के नीति निदेशक तत्वों की भावना को समानता और आर्थिक अधिकार, तथा हाशिए के और असुरक्षित लोगों की सुरक्षा की योजनाओं और नीतियों के रूप में परिवर्तित करती हैं। ताजा उदाहरण हाल के बजट में जल सुरक्षा और प्रत्येक घर में पानी के लिए 60,000 करोड़ रुपये के आवंटन का है।

समय स्वभाव अध्ययनों से संकेत मिलता है कि महिलाएँ अपना 20 प्रतिशत उत्पादक समय घरेलू उपयोग के लिए पानी इकट्ठा करने में खर्च करती हैं। इस प्रकार, यह आवंटन सीधे तौर पर महिलाओं को उत्पादक काम के लिए अधिक समय सुरक्षित करने और उनका बोझ कम करने में सहायता करेगा। आगे भी, समेकित दृष्टिकोण हेतु छतरी (नउइतमससं) पोर्टल के रूप में शक्ति, पोषण, वात्सल्य जैसी एकीकृत योजनाएँ और लैंगिक बजट में ग्यारह प्रतिशत बढ़ोतरी कुछ अन्य असाधारण उपलब्धियाँ हैं।

चुनौतियाँ और सार्थक पहल की संभावनाएँ

मार्गदर्शक सिद्धांत, सकारात्मक विधायन और कार्यान्वयन के बावजूद हाल के प्यू शोध सर्वेक्षण के अनुसार लैंगिक भूमिकाओं पर भारत अभी भी रूढ़िवादी है। सर्वेक्षण के अनुसार, जब काम की कमी हो तो रोजगार प्रदान करने में पुरुषों को वरीयता दी जानी चाहिए हालाँकि अधिकांश सहमत हैं कि महिलाओं को समान अधिकार दिए जाने चाहिए। 40 प्रतिशत जनसंख्या अभी भी सोचती है कि पुरुष रोटी कमाने वाला और महिलाएँ घर और बच्चे देखने वाली होनी चाहिए, 87 प्रतिशत अनुभव करते हैं कि पत्नी को अपने पति की आज्ञा का पालन करना चाहिए। अत: परिवार और समाज के भीतर समानता का बुनियादी आधार अभी भी एक चुनौती है। मनोवृत्ति में परिवर्तन आवश्यक है और केवल विधायन कभी बदलाव नहीं लाएगा। समान अधिकारों की स्वीकृति और बयानबाजी के बावजूद अधिकांश जीवन स्थितियों में पूर्वाग्रह और दुराग्रह महिलाओं के विरुद्ध काम करते हैं। इस प्रकार, यह महत्वपूर्ण है कि बौद्धिक,

अकादमिक, थिंक टैंक और नागरिक समाज के क्षेत्रों में चर्चा और बहस के माध्यम से निदेशक तत्वों पर नए सिरे से जोर दिए जाने की शुरुआत की जाए। इसे बाद में सरकारी विधायन और नीति निर्माण के विन्दु (इनपुट) के रूप में कार्य करना चाहिए। इससे विवादास्पद मुद्दों पर बेहतर विचार-मंथन और संवाद में सहायता मिलेगी, और आम सहमति बनाने तथा सामाजिक परिवर्तन के स्वामित्व में मदद मिलेगी। आरंभ करने के कतिपय विशिष्ट बिंदुओं में कुछ निश्चित क्षेत्र निम्नलिखित हो सकते हैं।

महिला और प्रौद्योगिकी

प्रौद्योगिकी और उत्पादकता में चोली-दामन का साथ है और ऐसा ही रोजगार के लिए भी है। प्रौद्योगिकी तक महिलाओं की पहुँच, खासकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था में, खराब और असमान है। ऐसे ही डिजिटल डिवाइड है,यह एक ऐसे समय में चिंता का प्रमुख विषय है जब अर्थव्यवस्था डिजिटल रूप से बदल रही है। समान काम के लिए समान वेतन सार्थक रूप से तभी लागू किया जाता है जब प्रौद्योगिकी और डिजिटल पहुंच की समान सुविधा मौजूद हो और जो काम करने के समान अवसर का आश्वासन देता हो। इस प्रकार, यह एक ऐसा क्षेत्र है जिस पर इस दृष्टि से तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता है कि भविष्य की असमानता से कैसे बचा जा सकता है और मौजूदा को कैसे निर्मूल किया जा सकता है? कमाई की समानता के लिए डिजिटल समानता एक पूर्व शर्त है।

महिला और कार्य

महिला श्रम बल की कमतर भागीदारी, जो और भी घट रही है, नीति निर्माताओं की सबसे बड़ी चिंता होनी चाहिए। कुछ समय पहले राष्ट्रीय महिला आयोग ने उस दिशा में कुछ क्षेत्रीय अध्ययन शुरू किए थे, फिर भी हमें अभी तक उस दिशा में महत्वपूर्ण उपाय होते देखना है। मेरे विचार में एलएफपी दरों में गिरावट उस प्रगति को उलट रही है जो हमने पिछले कई वर्षों में लैंगिक समानता लाने में प्राप्त की है। इसलिए यदि राज्य के नीति निदेशक तत्वों को राज्य का मार्गदर्शक सिद्धांत बनाना है तो फिर विधायन या नीति के रूप में तत्काल कदम उठाने की आवश्यकता है जिससे कि इस रुझान को आबद्ध कर पलटा जा सके। जैसे कि जब तक आर्थिक सशक्तीकरण सुनिश्चित नहीं होग, समानता कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती है। नीति निर्माण से पूर्व कृषि, श्रम, वित्तीय, डिजिटल सहित सभी संरचनात्मक सुधारों का लैंगिक दृष्टि से एक समग्र मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

भूमि अधिकार और ग्रामीण अर्थव्यवस्था

महिलाओं के लिए सुरक्षित भूमि अधिकारों ने महिला किसानों में बढ़ी हुई कृषि उत्पादकता, खाद्य सुरक्षा और सामर्थ्यशीलता को दर्शाया है। संवैधानिक समानता के बावजूद रीति-रिवाजों और परंपराओं ने विरासत में समानता को बाधित किया है। हिंदू उत्तराधिकार संशोधन अधिनियम ने महिलाओं की भूमि और संपत्ति के अधिकारों के दायरे का विस्तार किया है फिर भी भूमि अनुदान कार्यक्रमों के तहत कई सुधारों और स्टाम्प शुल्क आदि में क्रमिक कमी के बावजूद कृषि भूमि के स्वामित्व की स्थिति असामान्य रही है। भारत में लगभग एक तिहाई महिलाएँ कृषक हैं, लेकिन उनके पास लगभग 11 प्रतिशत भूमि का स्वामित्व है और 13 प्रतिशत जोत का संचालन करती हैं जबकि 75 प्रतिशत महिला कार्य बल कृषि पर निर्भर रहती है। इस प्रकार सामाजिक ताने-बाने को खंडित किए बिना न्यायसंगत भूमि अधिकार हेतु एक सार्थक वार्ता और गतिविधि को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है ।

परिवारवादी समाज में नारीवाद, अन्नपूर्णा के प्रति रवैया

मैं प्राय: कहती हूँ कि मैं नारीवादी नहीं हूँ। मैं एक परिवारवादी हूँ। फिर भी मैं अंतर्जात नारीवादी दृष्टिकोण को बढ़ावा देती हूँ जो कि शक्ति और शिव की सांस्कृतिक अवधारणा पर आधारित है। हमें यह पहचानने की जरूरत है कि हमारे परिवारों में शक्ति की गतिशीलता अब महिला केंद्रित नहीं है और इसलिए एक पुनर्रचना की आवश्यकता है। घर पर और पेशेवर काम करने वाली महिलाओं, जिनका दोहरे बोझ से दम घुट रहा है, के लिए वास्तव में बच्चा देखभाल, घरेलू काम और ध्यान देने की जिम्मेदारियों के लिए ठोस पारिवारिक समर्थन की आवश्यकता है। इस प्रकार परिवर्तित लैंगिक भूमिकाओं को घर और परिवार में एक वास्तविकता बनानी चाहिए। प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण रूप से, समानता हमारे समाज की प्राथमिक इकाई, जो कि परिवार है, से शुरू होती है, जो एक भौतिक इकाई नहीं बल्कि एक भावनात्मक इकाई भी है।

इस प्रकार राज्य से लेकर समाज तक हमें परिवार की अन्नपूर्णा को सम्मान देने के प्रयासों की आवश्यकता है जिसकी वो सुपात्र है। मैं उस विचार की समर्थक नहीं हूँ कि महिलाओं को घर पर किए गए कार्य के लिए भुगतान किया जाए, जो कि गृहकार्य पर नारीवादी साहित्य का केंद्रीय विचार है।

लेकिन मुझे लगता है कि काम और सहायक भूमिका के दोहरे बोझ को कम करने के लिए महिलाओं को सभी राज्यों का समर्थन अनिवार्य होना चाहिए - लचीले कामकाजी घंटों से लेकर बच्चे की देखभाल सहायता प्रावधान तक, बेहतर सामाजिक सुरक्षा से लेकर पेंशन और गृहकार्य के लिए महिला हितैषी प्रौद्योगिकी तक। महिलाओं के नेतृत्व वाले विकास की इस दिशा में उदाहरण के रूप में मैंने उज्जवला और हर घर नल का उल्लेख किया है। तथापि पाठ्यक्रम परिवर्तन, नागरिक समाज प्रयास, मीडिया और धार्मिक संगठन और सामाजिक संगठन के माध्यम से व्यवहार परिवर्तन के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। अंध युग के प्रभाव, जिसने महिलाओं के लिए अनादर और भेदभाव पैदा किया, को यदि पलटना है तो लंबे, निरंतर और दृढ़ प्रयास करने की आवश्यकता है।

यदि राज्य धर्म के रूप में राज्य के नीति निदेशक तत्वों में समानता, न्याय और कल्याण के उद्देश्य निहित रहे हैं, तब राज्य, समाज और परिवार सहित हमारे सभ्यतागत राष्ट्र की सभी इकाइयों को, भारत को रूपांतरित करने वाली नारी शक्ति को मुख्यधारा में शामिल करने और बनाए रखने के लिए समग्र और एकीकृत प्रयास करना चाहिए। केवल तभी महिला-नेतृत्व जनित विकास एक वास्तविकता बन सकता है।

डॉ. राजेंद्र कुमार पाण्डेय

नि:शुल्क कानूनी सहायता : निदेशक तत्व से राज्य की कार्रवाई तक

हमारे संविधान निर्माताओं ने उन सभी के लिए विधिक सहायता की कल्पना की थी, जिन्हें इसकी आवश्यकता है। लेकिन भारतीय संविधान की मूल योजना में इस सोच को स्थान नहीं मिल सका। वंचित लोगों तक इसकी पहुँच के प्रावधान बाद में किए गए। एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

लोकतंत्र और कानून के शासन की लंबी परंपराओं में निहित एक राष्ट्र के रूप में, भारत हमेशा ऐसे मानदंडों और प्रथाओं के प्रसार के लिए पहचाना जाता रहा है जो आम लोगों के लिए न्याय तक आसान और नि:शुल्क पहुँच की सुविधा प्रदान करते हैं। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जब भारत का संविधान तैयार किया जा रहा था, तो यह संविधान के संस्थापकों के पवित्र सपनों में से एक था कि यदि लोग सक्षम नहीं है, तो यह सुनिश्चित करने के लिए प्रावधान किए जाए कि कम या बिना आर्थिक साधन वाले आम लोगों को एक सुखी और सम्मानजनक जीवन के उद्देश्य की पूर्ति हेतु निर्मित संस्थाओं और उनकी प्रक्रियाओं से वो वंचित न रहें। तदनुसार, नागरिक और राजनीतिक अधिकार, जिनकी गारंटी से राज्य पर अधिक सामाजिक और आर्थिक लागत नहीं आती है, को मौलिक अधिकार बना दिया गया और सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार, जिनके लिए गंभीर प्रयासों और राज्य से भारी निवेश की आवश्यकता होती है, को भारतीय राज्य को सामाजिक जागरूकता और आर्थिक संसाधनों को बढ़ाने के उद्देश्य से कुछ समय देने के लिए राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों के रूप में रखा जाता है। हालाँकि नि:शुल्क कानूनी सहायता का संविधान की मूल योजना में उल्लेख नहीं है, पर वास्तव में ऐसे कई अनुच्छेद हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से अपने नागरिकों के लिए समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता उपलब्ध कराना राज्य का कर्तव्य बनाते हैं।

इस तरह शुरुआत में, समानता के अधिकार और जीवन के अधिकार के प्रावधानों के माध्यम से समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता के लक्ष्य को प्राप्त करने की मांग की गई थी। लेकिन समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता के आदर्श को एक अलग संवैधानिक स्थान देने की चर्चा हमेशा से रही है जो अंतत: 1976 में संविधान के अनुच्छेद 39-ए के रूप में फलीभूत हुई। अब जब भारत में नि:शुल्क कानूनी सहायता के राह पर एक नजर डालते हैं, तो यह काफी आश्वस्त हो जाता है कि संवैधानिक जनादेश को सरकारों के नीतिगत ढाँचे में बदलने के लिए निरंतर पर्याप्त प्रयास किए जा रहे हैं ताकि साधनों के अभाव के कारण कोई न्याय तक पहुँच से वंचित न रहे। हालाँकि न्याय तक पहुँच एक जटिल और बोझिल प्रक्रिया है, जिसे हासिल करने की कोशिश की गई है। यह एक तंत्र का निर्माण है जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति अपनी अलग-अलग सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के बावजूद भी न्याय प्राप्त कर सकता है। इस लेख के माध्यम से भारत में नि:शुल्क कानूनी सहायता की स्थिति का आलोचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है, जिसमें नि:शुल्क कानूनी सहायता के प्रावधान का राज्य के नीति के निदेशक सिद्धांत से लेकर राज्य की कार्रवाई का हिस्सा बनने तक विश्लेषण है।

संवैधानिक दृष्टि

उदार संवैधानिक लोकतंत्र को अंतर्निहित विशेषता के रूप में मानने और ऐसे मानदंडों में संविधान के संस्थापकों की गहरी आस्था के बावजूद, समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता के प्रावधान को भारतीय संविधान की मूल योजना में दो परस्पर संबंधित कारणों से स्थान नहीं मिला। पहला, वैचारिक रूप से, चूंकि कानूनी सहायता को संवैधानिक लोकतंत्र का एक कार्यात्मक पहलू

माना जाता है, इसलिए निर्माताओं ने शायद बाद के कानून निर्माताओं के लिए इस विषय को छोड़ देना बेहतर समझा ताकि इसके लिए उपयुक्त सक्षम साधन विकसित किया जा सके। दूसरा, कई अन्य सामाजिक और आर्थिक अधिकारों की तरह, इस तरह के अधिकार के लिए एक विशिष्ट प्रावधान से राज्य पर भारी आर्थिक और प्रशासनिक बोझ पड़ता। यहां तक कि इस विषय को राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय में शामिल करने से नैतिक रूप से राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता कि ऐसे निर्देश को अमल में लाने के लिए कुछ अल्पकालिक या दीर्घकालिक उपायों के बारे में सोचा जाए। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से संविधान संस्थापकों के लिए पसंदीदा विकल्प क्या हो सकता था कि कानूनी सहायता के संबंध में विशिष्ट प्रावधान करने से परहेज किया जाए और इसे संविधान के उन प्रावधानों के अविभाज्य भाग के रूप में व्याख्यायित किया जाए जो अलग-अलग सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के बावजूद भारत के सभी नागरिकों के लिए एक समान, मुक्त एवं गरिमामय जीवन को सुनिश्चित करे।

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के हिस्से के रूप में कानूनी सहायता पर विशिष्ट प्रावधान डालने से पहले भी, तीन अलग-अलग वैधानिक और संवैधानिक प्रावधान मौजूद थे, जिनमें कुछ मामलों में कानूनी सहायता के लिए प्रावधान करने के लिए राज्य की आवश्यकता थी। इस तरह, कानूनी सहायता के प्रावधान के लिए सबसे पहले संदर्भों में से एक आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारा 304 के बारे में जाना जा सकता है, जो न्यायालय को यदि वो आश्वस्त हैं कि अभियुक्त का कोई वकील प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा है या उसके पास वकील को नियुक्त करने के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं, तो कोर्ट के सत्र से पहले अभियुक्त के लिए एक वकील नियुक्त करने का अधिकार देता है।[1] इसके बाद, मौलिक अधिकारों के अध्याय के कुछ अनुच्छेदों में कानूनी सहायता के लिए अनुमानित सूचक भी हैं। उदाहरण के लिए, अनुच्छेद 14 राज्य को अपने नागरिकों के लिए कानून के समक्ष समानता सुनिश्चित करने के लिए बाध्य करता है, जिसका अर्थ है कि यदि कोई व्यक्ति अदालत में एक वकील होने के मामले में भेदभाव महसूस करता है, तो राज्य को उस व्यक्ति को ऐसी सहायता प्रदान करने की आवश्यकता हो सकती है।[2] इसी तरह, अनुच्छेद 21 के तहत, यदि किसी व्यक्ति को अपने जीवन या व्यक्तिगत स्वतंत्रता के नुकसान का डर है, लेकिन उनकी रक्षा के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सुरक्षा में अनिवार्य रूप से कानूनी सहायता का प्रावधान शामिल है।[3]

बहरहाल अपने नागरिकों के लिए सुरक्षित जीवन को सुनिश्चित करने को लेकर कानूनी सहायता के लिए ऐसे निहित प्रावधानों को अपर्याप्त पाते हुए, संसद ने समान न्याय को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से संविधान में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत के रूप में अनुच्छेद 39-ए को सम्मिलित करने के लिए संविधान का बयालीसवां संशोधन किया और देश में सभी को नि:शुल्क कानूनी सहायता को लेकर अधिनियम बनाया। अनुच्छेद में विशेष रूप से कहा गया है कि 'राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक प्रणाली का संचालन समान अवसर के आधार पर न्याय को बढ़ावा देगा, और विशेष रूप से यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या अन्य अक्षमताओं के कारण किसी भी नागरिक को न्याय हासिल करने के अवसरों से वंचित नहीं किया जाए, उपयुक्त कानून या योजनाओं या किसी अन्य तरीके से नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करेगा।'[4] समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता के लिए संविधान में एक स्पष्ट अनुच्छेद का समावेश इस प्रकार एक आदर्श का सुदृढीकरण है जिसने भारत की उदार लोकतांत्रिक राजनीतिक-कानूनी व्यवस्था को रेखांकित किया, लेकिन उस दौरान देश के सापेक्ष सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन में निहित परिस्थितिजन्य अनिवार्यताओं के कारण संविधान निर्माताओं का पक्ष नहीं पा सके। अब विशिष्ट संवैधानिक प्रावधान के साथ, भारत सबसे जीवंत उदार लोकतंत्रों में से एक के रूप में उभरा है, जो कि कानूनी और संवैधानिक बचाव के साथ मजबूत है।

अनुच्छेद 39-ए की भाषाई बनावट वास्तव में कानूनी सहायता की अवधारणा को रेखांकित करने वाले व्यापक दर्शन और संचालन तंत्र को प्रस्तुत करती है। सैद्धांतिक रूप से कानूनी सहायता का विचार अवसर की समानता के अधिकार के व्यापक ढाँचे के भीतर निहित है क्योंकि कानूनी उपचार का सहारा एक बुनियादी सेवा है जिसे आमतौर पर एक परिभाषित प्रक्रिया के बाद और एक प्रशिक्षित वकील को सेवा के लिए भुगतान करने के बाद प्राप्त किया जाता है

अनुच्छेद 39-ए की भाषाई बनावट वास्तव में कानूनी सहायता की अवधारणा को रेखांकित करने वाले व्यापक दर्शन और संचालन तंत्र को प्रस्तुत करती है। सैद्धांतिक रूप से कानूनी सहायता का विचार अवसर की समानता के अधिकार के व्यापक ढाँचे के भीतर निहित है क्योंकि कानूनी उपचार का सहारा एक बुनियादी सेवा है जिसे आमतौर पर एक परिभाषित प्रक्रिया के बाद और एक प्रशिक्षित वकील को सेवा के लिए भुगतान करने के बाद प्राप्त किया जाता है। यह देखते हुए कि इस तरह की सेवा तक पहुँच के लिए कौशल और आर्थिक दोनों साधनों की आवश्यकता होती है, आमतौर पर सभी के लिए पर्याप्त रूप से कुशल होना और सेवा का लाभ उठाने के लिए पर्याप्त आर्थिक संसाधनों का होना संभव नहीं है। इस तरह की स्थिति से कई मामलों में विभिन्न पक्षों के बीच कुछ हद तक असमानता शुरू होने की संभावना रहती है, जोकि बड़े संदर्भ में कानून के समक्ष समानता के अधिकार का उल्लंघन होगा, जिससे देश के राजनीतिक एवं विधिक प्रणाली में व्याप्त समानता और निष्पक्षता का मूलभूत सिद्धांत को कमजोर हो सकता है। इस तरह की स्थिति से बचने के लिए राज्य को उन लोगों के लिए नि:शुल्क कानूनी सहायता की सुविधा उपलब्ध करवाने की आवश्यकता होती है, जो स्वयं एक वकील की सेवाओं को लेने के लिए भुगतान करने में असमर्थ हैं। इसलिए, यह अनुच्छेद

भारत में सरकारों को इस मुद्दे पर सक्षम कानून बनाने और विभिन्न स्तरों पर कानूनी सहायता की एक जीवंत प्रणाली स्थापित करने का आदेश देता है।

वर्तमान दौर में भारत कम से कम सैद्धांतिक रूप से, अपने लोगों के लिए कानूनी सहायता के सबसे व्यापक और ठोस ढाँचों में से एक होने का दावा कर सकता है। जबकि इस विषय पर मूल संवैधानिक दृष्टि निहित रूप से कानून के समक्ष समानता का अधिकार, कानून की समान सुरक्षा, अवसर की समानता और जीवन के अधिकार जैसे अधिकारों से संबंधित अनुच्छेदों में निहित है। इस मुद्दे पर पूरी तरह से संविधान में एक अलग प्रावधान को सम्मिलित करने के साथ इसमें काफी स्पष्टता आ गई। हालांकि राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय में कानूनी सहायता के लिए सक्षम अनुच्छेद की उपस्थिति के आदर्श को जमीन पर उतारने के लिए सरकार की राजनीतिक इच्छाशक्ति पर कुछ प्रश्नचिह्न उठे थे, लेकिन भारतीय नागरिकों को नि:शुल्क कानूनी सहायता उपलब्ध कराने के लिए विभिन्न प्रकार की विधायी, कार्यकारी और न्यायिक कार्रवाइयों ने वास्तव में संदेह करने वालों को गलत साबित कर दिया। सभी जरूरतमंदों और असहायों को नि:शुल्क कानूनी सहायता के आदर्श को साकार करने के लिए सभी हितधारकों द्वारा वास्तव में अथक प्रयास किए गए हैं, और इन प्रयासों का सकारात्मक प्रभाव कानूनी सहायता समितियों और कानूनी कार्यकर्ताओं के रूप में अपनी सेवाओं को आर्थिक या अन्य अक्षमताओं से पीड़ित सभी लोग को उपलब्ध कराने के रूप में काफी स्पष्ट है।

न्यायिक दृढ़ता

कानूनी सहायता को लेकर व्यापक ढाँचे के निर्माण के लिए संवैधानिक जनादेश के बावजूद, कार्यपालिका काफी लंबी अवधि के लिए सक्षम विधायी और प्रशासनिक तंत्र विकसित करने पर बहुत उचित प्रयास करती नही दिख रही थी। इन परिस्थितियों में, कानूनी सहायता के मूल्य को दोहराने और राज्यों को कानूनी सहायता पर संवैधानिक निर्देश को गंभीरता से लेने के लिए लगातार निर्देशित करने की जिम्मेदारी न्यायपालिका पर आ गई। कई अन्य मामलों की तरह, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने इस विषय पर भी गरीब और जरूरतमंद लोगों को निराश नहीं किया और न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्ण अय्यर और पी.एन. भगवती जैसे प्रसिद्ध न्यायाधीशों ने मौलिक अधिकारों पर विभिन्न अनुच्छेदों के माध्यम से इस तरह के जनादेश का हवाला देते हुए असहाय अभियुक्त या पक्षकारों को नि:शुल्क कानूनी सहायता देने के आदेश को पारित करने में संकोच नहीं किया। उदाहरण के लिए, इस मुद्दे के शुरुआती मामलों में से एक एम. एच. होसकोट बनाम महाराष्ट्र राज्य में, सुप्रीम कोर्ट ने माना कि नि:शुल्क कानूनी सहायता का अधिकार मौलिक अधिकारों की व्यापक योजना का हिस्सा है और राज्य इस जिम्मेदारी को निभाने से नहीं भाग सकता है।[5]

प्रक्रियात्मक न्याय के एक निर्विवाद हिस्से के रूप में नि:शुल्क कानूनी सहायता की स्पष्ट घोषणा 1979 में हुसैनारा खातून बनाम बिहार राज्य के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की गई थी।[6] इस मामले में, अभियुक्तों की खराब आर्थिक स्थिति के कारण वो अपने मामलों की पैरवी करने के लिए वकील को नियुक्त नहीं कर पाये, जिसके परिणामस्वरूप निचली अदालत द्वारा फैसला सुनाए जाने में अनुचित देरी हुई और मामले को निलंबित स्थिति में छोड़ दिया गया। इस कारण विचाराधीन कैदियों ने कानून के प्रासंगिक प्रावधानों के तहत अनुमानित सजा की अवधि की तुलना में मुकदमे के बिना जेल में बहुत अधिक समय बिताया। दूसरे शब्दों में, अगर उनके मामले को एक वकील द्वारा तत्परता के साथ पेश किया गया होता और उचित समय के भीतर फैसला सुनाया गया होता तो उनके लिए सजा की अवधि उस समय से कम होती जो उन्होंने पहले ही जेल में बिताई थी। देश में न्यायिक प्रणाली के कामकाज की ऐसी स्थिति को गंभीरता से लेते हुए, सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 39-ए के प्रावधानों को संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत प्रत्याभूत जीवन के अधिकार के साथ पढ़ा जाना चाहिए। इस प्रकार नि:शुल्क कानूनी सहायता का अधिकार, मौलिक

अधिकारों का एक अभिन्न हिस्सा है जिसका उल्लंघन अदालतों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करेगा।

1981 में खत्री बनाम बिहार राज्य के ऐतिहासिक मामले में सुप्रीम कोर्ट द्वारा नि:शुल्क कानूनी सहायता की परिचालन गतिशीलता को व्याख्यायित किया गया था।[7] कमजोर प्रमाणों के आधार पर अभियुक्तों को नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करने से रोकने की सरकारों की प्रवृत्ति को भांपते हुए, न्यायालय ने ऐसे सभी तर्कों को अमान्य कर दिया और माना कि किसी अभियुक्त को कानूनी सहायता के नहीं मिलने के कारण न्यायसंगत और निष्पक्ष न्यायिक प्रक्रियाओं के सिद्धांत पर आघात होता है इसलिए यह सरकारों की संवैधानिक जिम्मेदारी बन जाती है कि वे वकील की सेवाएँ लेने में असमर्थ अभियुक्त को अपने खर्च पर नि:शुल्क कानूनी सहायता उपलब्ध करवाना सुनिश्चित करे। न्यायालय ने दृढ़ता से कहा कि नि:शुल्क कानूनी सहायता भारत के सभी नागरिकों का एक संवैधानिक अधिकार है और राज्य वित्तीय या प्रशासनिक बाधाओं के आधार पर इसे सुनिश्चित कराने से नहीं भाग सकता है। इसके आगे यह भी कहा गया कि सुनवाई के सभी चरणों में एक अभियुक्त को नि:शुल्क कानूनी सेवाएँ प्रदान करने की आवश्यकता है। न्यायालय ने जिलाधीश और न्यायाधीशों सहित न्यायिक अधिकारियों का एक कर्तव्य भी तय किया कि वे उन स्थितियों को समझें जिनमें एक अभियुक्त नि:शुल्क कानूनी सहायता के अधिकार की जागरूकता न होने या साधनों के अभाव के कारण वकील के सेवाएँ लेने में असमर्थ है, और उसे इस तरह की नि:शुल्क कानूनी सहायता की उपलब्धता की जानकारी भी प्रदान करें।

देश में कानूनी साक्षरता के एक प्रमुख उद्देश्य नि:शुल्क कानूनी सहायता पर संवैधानिक प्रावधानों को बनाने का काम सुप्रीम कोर्ट ने सुक दास बनाम केंद्र शासित प्रदेश अरुणाचल प्रदेश के अपने महत्वपूर्ण फैसले में लिया था।[8] भारत में साक्षरता के स्तर के साथ-साथ विशेष रूप से ग्रामीण इलाकों में विद्यमान सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के बारे में व्यापक दृष्टिकोण रखते हुए, न्यायालय ने कहा कि अधिकांश वंचित और असहाय लोगों से यह अपेक्षा करना बहुत अधिक होगा कि वे सामान्य रूप से उनके संवैधानिक अधिकारों जैसे कि विशेष रूप से नि:शुल्क कानूनी सहायता के अधिकार बारे में जागरूक होंगे। यहाँ तक कि अगर उनमें से कुछ को यह अहसास भी होता है कि उन्हें अदालती कार्यवाही के दौरान राज्य से किसी प्रकार की कानूनी सहायता मिल सकती है, तो उन प्रक्रियाओं और एजेंसियों के बारे में जानकारी के अभाव के कारण वो लाभ नहीं उठा पाते। इन परिस्थितियों में, कोर्ट ने जो कहा, वो लोगों को उनके अधिकारों के साथ-साथ उन प्रक्रियाओं के बारे में जागरूक करने पर विशेष ध्यान देने के साथ कानूनी साक्षरता के लिए महत्वपूर्ण प्रयास है जो बेहद परिवर्तनकारी साबित हो सकते हैं और जिससे लोग इन अधिकारों का लाभ उठा सकते हैं या संरक्षण प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार इस मामले के साथ नि:शुल्क कानूनी सहायता का अधिकार आम जनता में जागरूकता का विषय बन गया ताकि भारत के कोई भी नागरिक न्यायसंगत और निष्पक्ष सुनवाई के अधिकार से वंचित न रहे।

हरियाणा राज्य बनाम दर्शन देवी के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने सहानुभूतिपूर्ण और विचारशील टिप्पणियों के माध्यम से नि:शुल्क कानूनी सहायता के दायरे को आगे बढ़ाया गया और अदालतों की कुछ अन्य अजीब और बोझिल प्रक्रियाओं को उचित रूप से समायोजित किया गया।[9] अपने फैसले के संदर्भ में, कोर्ट ने अफसोस जताया कि सरकारें अक्सर केवल कानून के शासन के नियमों का पालन करने में उचित परिश्रम नहीं दिखा रही हैं बल्कि समय-समय पर बनाए गए कानूनों के प्रावधानों को व्यावहारिक रूप दे रही हैं। इस विशेष मामले में, शुल्क के संबंध में कुछ अदालती प्रक्रियाओं के पालन पर अतार्किक दावे के लिए हरियाणा राज्य को फटकार लगाते हुए न्यायालय ने प्रखरता के साथ कहा कि 'न्यायालय शुल्क पर जोर देकर और छूट को लागू करने से इनकार करके गरीबों को सिविल प्रक्रिया संहिता के प्रावधान से बाहर नहीं किया जाएगा।'[10] न्यायालय ने अन्य राज्य सरकारों को भी संसद द्वारा कई वर्षों की सहमति के बावजूद संविधान के अनुच्छेद 39-ए के प्रावधानों को प्रभावी बनाने के लिए विधायी या कार्यकारी उपायों के माध्यम से पर्याप्त प्रयास नहीं करने के पर कड़ी फटकार लगाई। इस मामले में न्यायलाय के इस निर्णय ने कई सरकारों के लिए समान न्याय के अधिकार को लागू करने और निरक्षर एवं गरीब लोगों पर विशेष ध्यान देने के साथ सभी को नि:शुल्क कानूनी सहायता के लिए कदम उठाने के लिए उत्तेजक के रूप में काम किया।

राज्य कार्रवाई

समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता को लेकर एक लंबे समय से संवैधानिक प्रावधानों को साकार करने में राज्य की ठोस कार्रवाई को निर्विवाद रूप से निरंतर न्यायिक दृढ़ता के लिए जिम्मेदार माना जा सकता है। कई अन्य मामलों की तरह, समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता के उद्देश्य को साकार करने के लिए विधायी या कार्यकारी कार्यों के सही दिशा में प्रयास को लेकर सरकारों की ओर से किसी भी पहल के लिए राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी शायद सबसे महत्वपूर्ण कारक रही है। दिलचस्प बात यह है कि राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव में, आर्थिक और प्रशासनिक बाधाओं को एक कारण के रूप में स्पष्ट तर्क देने के लिए अच्छी तरह से गढ़ा जा सकता है। इस प्रकार एक लंबे समय तक, राज्य द्वारा समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता के लिए केवल कथित सेवा प्रदान की गई प्रतीत होती है। हालांकि कानूनी सहायता का मुद्दा 1952 से ही कानून मंत्रियों और कानून आयोग के सम्मेलनों में उठाया गया था, इस संबंध में ठोस कदम 1960 के दशक के दौरान कानूनी सहायता योजनाओं के रूप में उठाया जा सकता था, जिसे विभिन्न राज्यों में कानूनी सहायता बोर्ड, समितियों या कानून विभागों के माध्यम से लागू करने की मांग की गई थी। बाद में, कानूनी सहायता योजनाओं के प्रभावी कार्यान्वयन के तरीकों और साधनों का सुझाव देने के लिए एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया गया था, जिसकी रिपोर्ट गरीबों और जरूरतमंदों को कानूनी सहायता की परिकल्पना लेकर कानूनी दिग्गजों की तीखी आलोचना के तहत आई थी।[11] इस बीच, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा,

समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता के लिए अपने संवैधानिक दायित्व को पूरा करने से बचने के लिए सरकारों द्वारा प्रस्तुत किए गए तुच्छ आधारों को लेकर बार-बार फटकार और खंडन के बाद समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता के प्रावधानों को लागू करने के लिए उपयुक्त विधायी और कार्यकारी ढांचा विकसित करने के विषय में अपनी जड़ता को छोड़ते हुए विचार करने पर मजबूर हो गए।

अपेक्षित रूप से, इस दिशा में पहला कदम केंद्र सरकार द्वारा 1987 में इस मामले पर कानून लाकर उठाया गया था। संसद द्वारा विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 का अधिनियमन, विशेष रूप से अनुच्छेद 39-ए के तहत परिकल्पित समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता से संबंधित संविधान के प्रासंगिक प्रावधानों को व्यावहारिक रूप देने की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कदम था। यह फ्रेमवर्क विधि निर्माण को लेकर राज्य सरकारों के मसौदे के लिए मार्गदर्शक माना जाता है, राज्य सरकारों के इस कानून को लेकर तैयार किए गए मसौदे कमोबेश समान है, यदि समान नहीं भी है तो भी कानून उनकी विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, अधिनियम में निर्दिष्ट लोगों की सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक, मानसिक और अनुचित परिस्थितियों के संदर्भ में विस्तृत रूप से निर्दिष्ट श्रेणी के लोगों को नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करने के लिए गठित अधिकारियों या निकायों से संबंधित सांकेतिक प्रावधान शामिल हैं। केंद्रीय स्तर पर व्यापक और विशिष्ट कानूनी सहायता निकायों के निर्माण के लिए निश्चित प्रावधान करने के अलावा, अधिनियम राज्य सरकारों को ऐसा करने के लिए पर्याप्त स्थान प्रदान करता है। नि:शुल्क कानूनी सहायता की अवधारणा का व्यापक दृष्टिकोण रखते हुए अधिनियम वास्तव में भारतीय न्यायिक प्रणाली को रेखांकित करने वाली बारीकियों और कानूनी सहायता निकायों के माध्यम से जरूरतमंद लोगों मदद के उचित तरीके को बताता है, इसलिए यह अधिनियम विधायी ढाँचे का एक मार्गदर्शक अंश है जिसका उद्देश्य नि:शुल्क कानूनी सहायता की संवैधानिक दृष्टि को साकार करने के लिए एक ठोस आधार प्रदान करना है।

एक राज्य के भीतर प्रशासनिक इकाइयों के तंत्र में उपराष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरणों का गठन किया जाता है। तदनुसार प्रत्येक राज्य में संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में राज्य विधिक सेवा प्राधिकरण है। प्राधिकरण के पास न केवल नालसा द्वारा जारी नीतियों और दिशानिर्देशों का अनुपालन सुनिश्चित करने का अधिकार है, बल्कि जिला और उप-जिला स्तर पर कानूनी सेवा प्राधिकरणों के कामकाज और संबंधित राज्य में लोक अदालतों के नियमित एवं प्रभावी संगठन की निगरानी की जिम्मेदारी भी है

संसदीय अधिनियम से प्रेरणा लेते हुए, राज्य सरकारों ने नि:शुल्क कानूनी सहायता के लिए व्यापक और बहुस्तरीय तंत्र बनाने के लिए केंद्र सरकार के प्रयासों के पूरक सक्षम कानून भी बनाए। समसामयिक रूप से राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण (NALSA) सरकार के विभिन्न स्तरों पर बनाए गए कानूनी सहायता निकायों के पदानुक्रम के शीर्ष पर है। सर्वोच्च न्यायालय के एक मौजूदा न्यायाधीश के कार्यकारी प्रभार के तहत काम करते हुए, नालसा को न केवल अधिनियम के प्रावधानों के तहत परिकल्पित कानूनी सेवाओं को हासिल करने के उद्देश्य से व्यापक सिद्धांतों और नीतियों को तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गई, बल्कि रचनात्मक तंत्र और जरूरतमंद और पात्र व्यक्तियों के लिए मूल्यवान और सस्ती कानूनी सहायता योजनाओं को तैयार करने की भी जिम्मेदारी भी दी गई। राज्य विधिक सेवा प्राधिकरण के कामकाज की निगरानी करने की भी बड़ी जिम्मेदारी होती है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि न केवल नि:शुल्क कानूनी सहायता के संबंध में राष्ट्रीय नीतियों को प्रभावी ढंग से लागू किया जाए, बल्कि राज्य निकाय समान रूप से राज्य के लोगों को न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता को लेकर संवैधानिक और वैधानिक दृष्टि को लागू करने के लिए प्रहरी के रूप में भी कार्य करे। इस तरह से नालसा को केंद्रीय विधायी प्रावधानों के कार्यान्वयन के संबंध में नीति निर्माण के साथ-साथ कार्यकारी कार्यों दोनों का निर्वहन करना होता है।

एक राज्य के भीतर प्रशासनिक इकाइयों के तंत्र में उपराष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरणों का गठन किया जाता है। तदनुसार प्रत्येक राज्य में संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में राज्य विधिक सेवा प्राधिकरण है। प्राधिकरण के पास न केवल नालसा द्वारा जारी नीतियों और दिशानिर्देशों का अनुपालन सुनिश्चित करने का अधिकार है, बल्कि जिला और उप-जिला स्तर पर कानूनी सेवा प्राधिकरणों के कामकाज और संबंधित राज्य में लोक अदालतों के नियमित एवं प्रभावी संगठन की निगरानी की जिम्मेदारी भी है। गरीब और जरूरतमंद लोगों को कानूनी सहायता प्रदान करने में जिला विधिक सेवा प्राधिकरणों द्वारा राज्य विधिक सेवा प्राधिकरणों को पूरा सहयोग दिया जाता है। संबंधित जिलों के जिला न्यायाधीश की अध्यक्षता में प्रत्येक जिले में गठित, ये प्राधिकरण वास्तव में उन्नत ढंग से कार्य करते हैं, जिसके माध्यम से बड़ी संख्या में लोगों को कानूनी सहायता प्रदान की जाती है। कई राज्यों में, कानूनी सहायता प्राधिकरणों को तालुका या मंडल स्तरों पर भी गठित किया जाता है ताकि कानूनी सहायता को यथासंभव लोगों तक पहुंचाया जा सके। ये प्राधिकरण आमतौर पर लोक अदालतों का आयोजन करते हैं और जागरूकता अभियान सहित अन्य कानूनी सहायता सेवाएँ देते हैं। इस प्रकार अब विभिन्न स्तरों पर कानूनी सेवा प्राधिकरणों का एक पदानुक्रम मौजूद है और एक दूसरे से अच्छी प्रक्रियाओं को सीखने के अलावा सामान्य कानूनी सहायता नीतियों, कार्यक्रमों और योजनाओं के लिए एक दूसरे के साथ व्यवस्थित रूप से जुड़े हुए हैं।

विधिक सेवा प्राधिकरणों के अलावा, सुप्रीम कोर्ट ने जरूरतमंद और योग्य लोगों को नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करने

के लिए सुप्रीम कोर्ट लीगल सर्विसेज कमेटी (SCLSC) के रूप में अपना आंतरिक तंत्र भी बनाया हुआ है। यह समिति कानूनी दिग्गजों और अधिवक्ताओं के सूचीबद्ध समूह की अनूठी व्यवस्था है, जिनकी सेवाओं का लाभ कानून या संविधान के महत्वपूर्ण मुद्दों से जुड़े दुर्लभ मामलों की सुनवाई में लिया जा सकता है, हालांकि ऐसे मामलों के पक्षकार मामले को शीर्ष अदालत में आगे बढ़ाने की स्थिति में नहीं होता। एससीएलएससी वास्तव में नालसा के कारण बनाया गया ताकि नालसा में आने वाले योग्य मुकदमों को सर्वोच्च न्यायालय में लाया जा सके। इसके अतिरिक्त नालसा नि:शुल्क कानूनी सहायता का प्रतीक बना हुआ है, जिसकी सेवाएँ देश के सभी हिस्सों में सुनिश्चित करना आवश्यक है। उसके लिए, इसने राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण (नि:शुल्क और सक्षम कानूनी सेवा) अधिनियम, 2010 का मसौदा तैयार किया। फिर भी, भारत में अधिकांश नि:शुल्क कानूनी सहायता देश भर में विभिन्न स्तरों पर और नियमित अंतराल पर आयोजित लोक अदालतों के तंत्र के माध्यम से प्रदान की गई है।

मुद्दे और चुनौतियाँ

वंचित और आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करने के लिए विभिन्न स्तरों पर विधिक सेवा प्राधिकरणों के रूप में व्यापक तंत्र का निर्माण में संविधान के अनुच्छेद 39-ए के तहत परिकल्पित दायित्व को पूरा करने में एक लंबा सफर तय किया है। लेकिन जब देश में नि:शुल्क कानूनी सहायता की वास्तविक स्थिति को देखने की बात आती है, तो स्थिति उतनी अच्छी नहीं लगती जितनी कि 1987 में विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम के अधिनियमन के समय होने का वादा किया गया था। अभी भी बड़ी संख्या में ऐसे लोग देखे जा सकते हैं जिनके लिए कानून के साथ सामना अपरिहार्य रूप से बिना किसी कानूनी सहायता के लंबे समय तक कैद और अन्य कठिनाइयों के रूप में होगा। ऐसी अनुचित स्थिति के कारणों को आंशिक रूप से देश में प्रचलित सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के संदर्भ में समझाया जा सकता है, इसका अधिकांश दोष एजेंसियों और उन लोगों को भी जाता है जिन पर भारत में सभी के लिए नि:शुल्क कानूनी सहायता को वास्तविकता बनाने की जिम्मेदारी है।[12] क्योंकि, सामाजिक असमानताएं और आर्थिक अभाव भारत की वास्तविकताओं को बयां कर रहे हैं और इसलिए विधिक सेवा प्राधिकरणों की ओर से जो आवश्यक है, वह यह है कि लोगों के नि:शुल्क कानूनी सहायता के अधिकार को सुरक्षित करने के तरीकों और साधनों को तैयार करने में इन शर्तों को शामिल किया जाए।

भारत में बड़ी संख्या में लोगों को नि:शुल्क कानूनी सहायता प्राप्त करने में एक बड़ी बाधा इस विषय पर संवैधानिक और वैधानिक प्रावधानों से अनभिज्ञता है। कठोर सामाजिक संरचना और सापेक्षिक आर्थिक पिछड़ेपन के बीच, सार्वभौमिक साक्षरता की कमी न्यायिक शिथिलता के भंवर में फंसे लोगों के संकट को बढ़ा देती है।[13] कानूनी प्रक्रियाओं और आर्थिक साधनों के पर्याप्त ज्ञान के अभाव में एक बड़ी संख्या में लोगों के लिए किसी भी कानूनी कार्यवाही में उलझने का परिणाम हमेशा असहाय रहता है और उन्हें विधिक प्रवर्तन संस्थाओं की संरचनाओं और प्रक्रियाओं में अंतर्निहित अमानवीय तौर-तरीकों का खामियाजा भुगतना पड़ता है। इस तरह की स्थिति को स्वीकार करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने खत्री बनाम बिहार राज्य[14] के मामले में अपना फैसला सुनाते हुए न्यायिक अधिकारियों पर यह कर्तव्य डाला कि वो एक अभियुक्त को सूचित करें कि यदि वो कानूनी सहायता प्राप्त करने में असमर्थ है तो यह राज्य की जिम्मेदारी है कि राज्य उसे नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करे। आमतौर पर देखा गया है कि ऐसे अधिकारियों द्वारा इस कर्तव्य का पालन नहीं किया जाता है इसलिए इस देश के नागरिक के रूप में लोगों को उनके संवैधानिक और वैधानिक अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में जागरूक करने के लिए कानूनी साक्षरता को लेकर एक बड़ा अभियान चलाने की आवश्यकता है।

यह अक्सर देखा जाता है कि कुछ लोगों के लिए कुछ प्रकार की संस्थागत व्यवस्थाएँ या सेवा प्रावधान प्रक्रियात्मक जटिलताओं या इच्छुक लाभार्थियों की ओर से संस्थानों से संपर्क करने या उनकी सेवाओं का लाभ उठाने के तरीकों के बारे में जानकारी के अभाव के कारण निष्क्रिय या अनुपयोगी रहते हैं। काफी हद तक नि:शुल्क कानूनी सहायता प्राप्त करने वाली संस्थाओं और प्रक्रियाओं के मामलों में भी इस तरह की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, नि:शुल्क कानूनी सहायता और इसके लिए संस्थागत व्यवस्था के संबंध में व्यापक प्रचार-प्रसार की कमी के कारण अधिकांश लोगों उनके बारे में नहीं जानते हैं। लेकिन कई ऐसे मामले भी हैं जहां लोगों को इस तरह की सेवा और इसे प्रदान करने वाले संस्थानों के बारे में पता होता है, लेकिन प्रक्रियात्मक जटिलताएँ बड़े पैमाने पर लोगों को इन संस्थानों से लाभ प्राप्त करने में बाधा बनती है।[15] हालाँकि कानूनी सहायता निकायों से संपर्क करने की प्रक्रिया एक साधारण आवेदन लिखने या किसी मामले का मौखिक विवरण देने जितना आसान बना दिया गया है, लेकिन ऐसे सरल कदमों को लेकर जागरुकता के अभाव ने आमतौर पर लोगों के लिए इन सेवाओं को उनकी सीमा से बाहर मानने पर मजबूर कर दिया है। ऐसी चुनौतियों से पार पाने के लिए कानूनी स्वयंसेवकों के सक्रिय एवं इच्छुक समर्थन और सहायता को सूचीबद्ध किया जा सकता है ताकि लोगों को नि:शुल्क कानूनी सहायता आसानी से मिल सके और वो बिना किसी बाधा के कानूनी सहायता मंचों पर आ सकें।

नि:शुल्क कानूनी सहायता प्राप्त करने वाले लोगों के लिए ऐसी सहायता के नाम पर प्रदान की जाने वाली सेवाओं की गुणवत्ता एक शक्तिशाली ढाल के रूप में काम करती है।[16] लेकिन यह सामान्य धारणा है कि आमतौर पर केवल अक्षम या अनुभवहीन वकील ही नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करने के लिए लगे होते हैं क्योंकि उनकी सेवाओं का भुगतान करना आसान और सस्ता होता है। कई बार नि:शुल्क कानूनी सहायता के लाभार्थी के मामले को आगे बढ़ाने के लिए लगा हुआ वकील अपने पक्षकार को धोखा देता है और पीड़ित व्यक्ति का हित करने के स्थान पर उसका अहित कर देता है। कई अवसरों पर, अनुचित आर्थिक प्रलोभन के कारण नि:शुल्क कानूनी परामर्शदाता एक अभियुक्त के मामले में आरोपी को बचाते

हुए अपने स्वयं के पक्षकार के मामले को कमजोर करने के लिए लड़ते हैं। हालांकि इस तरह की घटनाओं को सुप्रीम कोर्ट द्वारा SCLSC के माध्यम से केवल सक्षम और अभिलेखित अधिवक्ताओं को शामिल करने में कुछ दिशानिर्देशों की शर्तों के माध्यम से दूर करने की कोशिश की गई है लेकिन ऐसे मानदंड और दिशानिर्देश निचली और जिला अदालतों के स्तर पर गायब हैं।[17] नतीजतन, नि:शुल्क कानूनी सहायता का प्रावधान एक तमाशा बन जाता है और लोग नि:शुल्क कानूनी सहायता निकायों की सेवाओं का उपयोग करने से कतराते हैं।

निष्कर्ष अवलोकन

अपने नागरिकों के लिए समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता हासिल करने की दिशा में भारत की प्रगति वास्तव में उन परिस्थितियों को देखते हुए अभूतपूर्व हैं जिनके बीच इन पोषित लक्ष्यों को पूरा करने की मांग की गई थी। वास्तव में, संविधान निर्माताओं और विशेषज्ञों दोनों के मन में हमेशा यह संदेह रहा कि क्या सामाजिक असमानताओं और आर्थिक पिछड़ेपन के मौजूदा स्तरों के बीच देश में इस तरह के उदात्त आदर्श का पालन किया जा सकता है। संभवत: यही कारण रहा होगा कि संविधान निर्माताओं ने राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय में भी इस तरह के प्रावधान को शामिल करने से परहेज किया। इसके अलावा, कानूनी सहायता पर अंतरराष्ट्रीय विशेषज्ञों ने इस बात पर संदेह करना जारी रखा कि ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले अधिकांश लोग को साक्षरता के निम्न स्तर और संबंधित समस्याओं के साथ नि:शुल्क कानूनी सहायता किस हद तक प्रभावी ढंग से प्रदान की जा सकती है।[18] इस तरह की हिचकिचाहट के बावजूद, भारत के लोगों को समान न्याय का अधिकार और नि:शुल्क कानूनी सहायता की गारंटी देने की मांग राजनीतिक विमर्श की मुख्य धारा में बनी रही। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कार्यपालिका के जटिल कदमों को अधिक प्रोत्साहन दिया गया, जिसने समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता के आदर्श को लागू करने के लिए ठोस विधायी और कार्यकारी कदमों के लिए बहस करने का कोई अवसर नहीं गंवाया। 1987 में नि:शुल्क कानूनी सहायता पर सक्षम कानून का अधिनियमन एक महत्वपूर्ण मोड़ के रूप में आया जिसने देश भर में जरूरतमंद और गरीब लोगों को कानूनी सेवाएँ प्रदान करने के लिए व्यापक और बहुस्तरीय ढाँचे के निर्माण की कल्पना की। लोक अदालतों की अवधारणा भी एक क्रांतिकारी विचार बन गई है जिसने बड़ी संख्या में लोगों को कानूनी सहायता के प्रभावी वितरण में मदद की है।

प्रौद्योगिकी में तेजी से प्रगति के साथ, कानूनी सहायता की कार्य प्रक्रियाओं में आपसी सहयोग की संभावनाएँ जन स्तर पर न्याय की पहुँच के क्षेत्र में क्रांतिकारी साबित हो सकती है।[19] इसलिए कानूनी सेवाओं के तक आम जन की पहुँच को सुनिश्चित करने में आने वाली समस्याओं और चुनौतियों के बावजूद, नि:शुल्क कानूनी सहायता का एक निर्देशक सिद्धांत होने से लेकर राज्य की कार्रवाई का केन्द्रीय क्षेत्र बनने का उद्देश्य साकार होना वास्तव में आश्वस्त करने वाला रहा है, और वे दिन बहुत दूर नहीं लगते हैं जब भारत लोगों को समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता प्राप्त कराने के लिए एक मॉडल के रूप में जाना जाएगा।

संदर्भ

1. जी. मल्लिकार्जुन, *लीगल एड इन इंडिया ऐंड द जुडिशियल कंट्रीब्यूशन,* नलसर लॉ रिव्यू, खंड 7, अंक 1, 2013, पृ. 238
2. सिल्की मुखर्जी, *कंस्टीट्यूशनल प्रॉविजंस फॉर लीगल एड इन इंडिया,* भारती लॉ रिव्यू, जनवरी-मार्च, 2013, पृ. 151
3. जे. एन. पाण्डेय, *कॉन्स्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया,* सेंट्रल लॉ एजेंसी, इलाहाबाद, 2020, पृ. 85
4. पी. एम. बक्शी, द *कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया,* यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 2020, पृ. 59
5. एम. एच. होस्कोट बनाम महाराष्ट्र राज्य, एआईआर 1978 एससी 1548
6. हुसैनारा खातून बनाम बिहार राज्य, एआईआर 1979 एससी 1377
7. खत्री बनाम बिहार राज्य, एआईआर 1981 एससी 928
8. सुक दास बनाम अरुणाचल प्रदेश संघशासित क्षेत्र, एआईआर 1986 एससी 991
9. हरियाणा राज्य बनाम दर्शना देवी, एआईआर 1972 एससी 855
10. वही
11. देखें, उपेंद्र बक्सी, लीगल असिस्टेंस टु द पुअर: अ क्रिटिक ऑफ द एक्सपर्ट कमेटी रिपोर्ट, *एकोनॉमिक ऐंड पोलिटिकल वीकली*, खंड 10, अंक 27, जुलाई 5, 1975
12. देखें, फरजाना अख्तर, द *स्टैंडर्ड ऑफ असिस्टेंस फ्रॉम लीगल एड लॉयर्स: ऐन इंडियन पर्सपेक्टिव*, इंडियन लॉ रिव्यू, खंड 5, अंक 2, अप्रैल, 2021, पृ. 189-209
13. जीत सिंह मान, *रीस्टोरिंग द कॉनफिडेंस ऑफ द पीपल इन फ्री लीगल एड सर्विसेज इन इंडिया*, में रमन मित्तल एवं के.वी. श्रीमिथुन (सं.), लीगल एड: कैटेलिस्ट फॉर सोशल चेंज, सत्यम लॉ इंटरनेशनल, नई दिल्ली, 2021, पृ. 197
14. यथा उद्धृत
15. देखें, जीत सिंह मान, *कंपरेटिव लीगल एड सिस्टम्स ऐंड इंडिया*, राउटलेज, नई दिल्ली, 2022
16. धनंजय महापात्रा, लीगल एड लिटिल हेल्प ऐज वन लॉयर फॉर 161 इनमेट्स, द *टाइम्स ऑफ इंडिया*, नई दिल्ली, जनवरी 30, 2020
17. जीत सिंह मान, प्लाइट ऑफ लीगल एड कंसुल्स ऐट द डिस्ट्रिक्ट कोर्ट्स ऑफ इंडिया, *इकोनॉमिक ऐंड पोलिटिकल वीकली*, खंड 55 अंक 19, मई 9, 2020
18. देखें, रिचर्ड के. गॉर्डन एवं जोनाथन एम. लिंडसे, लॉ ऐंड द पुअर इन रूरल इंडिया: द प्रॉस्पेक्ट्स फॉर लीगल एड, *अमेरिकन यूनिवर्सिटी इंटरनेशनल लॉ रिव्यू, खंड 5,* अंक 3, 1990, https://digitalcommons.wcl.american.edu/cgi/viewcontent.cgi?referer=&httpsredir=1&article=1591&context=auilr
19. देखें, रिचर्ड के सौरभ सूद, कनवर्जेंस इन द प्रैक्टिस ऑफ लीगल एड टु इंप्रूव एक्सेस टु जस्टिस, *एशियन जर्नल ऑफ लीगल एजूकेशन*, खंड 6, अंक 1-2,जुलाई 2019, पृ. 21

साजी नारायणन सी.के.

भारतीय संविधान और श्रम सुधार

स्वतंत्र भारत के संविधान का एक महत्वपूर्ण पक्ष है श्रम सुधार। संविधान में श्रम सुधारों के जोड़े जाने और समय के साथ इनके विकास का एक संक्षिप्त विवरण

डॉ. अंबेडकर को इतिहास के पृष्ठों में भारतीय संविधान के शिल्पी के रूप में जाना जाता है। लेकिन वे भारत में श्रम सुधारों के प्रणेता भी थे। जब वे वायसराय की परिषद के सदस्य के रूप में भारत के पहले श्रम मंत्री थे, तब उन्होंने देश के अधिकांश महत्वपूर्ण श्रम कानूनों को तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। श्रमिकों के हित के लिए उनकी धुन के परिणामस्वरूप भारतीय संविधान में श्रम से संबंधित कई प्रावधानों को शामिल किया गया। भारतीय संविधान के प्रावधानों में कई दूरदर्शी विचार हैं, जिन्हें प्राय: संविधान सभा में दूसरों के विचारों को समायोजित करने के लिए जोड़ा या कमतर किया गया था। डॉ. अंबेडकर ने संविधान में सामाजिक न्याय के दर्शन को शामिल करके अपनी प्रतिभा दिखाई है। डॉ. अंबेडकर के समय के बाद भी कई विचार जोड़े गए। अनुच्छेद 39 डी में समान काम के लिए समान मजदूरी के सिद्धांत के बारे में डॉ. अंबेडकर ने कहा: "मुझे लगता है कि यह पहली बार है कि किसी भी उद्योग में लैंगिकता के निरपेक्ष समान काम के लिए समान मजदूरी का सिद्धांत स्थापित किया गया है"। (*संविधान सभा वाद-विवाद*, खंड-1, 8 फरवरी 1944, पृ. 131)

संविधान में श्रम प्रावधानों का अवलोकन

श्रमिक संघ अधिकार

श्रमिक संघ और श्रमिकों के संगठित होने का अधिकार भारत के संविधान में वर्णित 'भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' (अनुच्छेद 19(1)(ए)), 'बिना हथियारों के शांतिपूर्वक इकट्ठा होने की स्वतंत्रता' (अनुच्छेद 19 (1) (बी)), और 'संगठन या संघ बनाने का अधिकार' (अनुच्छेद19 (1) (सी)) जैसे विचारों से उत्पन्न होता है। 'प्रदर्शन का अधिकार' अनुच्छेद 19 (1) (ए)) और अनुच्छेद 19 (1) (सी) में निहित है। प्रदर्शन करने का अधिकार 'संगठन या संघ बनाने के अधिकार' का एक हिस्सा है। भले ही 'भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' राज्य द्वारा नागरिकों के अधिकारों में कटौती के खिलाफ गारंटी देती है, सरकार अनुच्छेद 19 (2),[1] 19 (3) और 19)4) में उल्लिखित आधारों के संबंध में प्रदर्शनों, धरना और हड़ताल पर "उचित प्रतिबंध" (अनुच्छेद 19 (2)) लगा सकती है। शांतिपूर्ण और व्यवस्थित प्रदर्शन श्रमिकों को न केवल नियोक्ताओं के लिए बल्कि सरकारी एजेंसियों के साथ-साथ आम जनता को भी अपनी माँगों को प्रभावी ढंग से संप्रेषित करने में सक्षम बनाता है।

श्रम पर नीति निदेशक तत्व

अनुच्छेद 37 के अनुसार, अनुच्छेद 36 से 51 में निहित नीति निदेशक तत्व "किसी भी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं होंगे"; फिर भी, वही अनुच्छेद यह भी कहता है कि वे "शासन में आधारभूत" हैं और "कानून बनाने में राज्य को इन तत्वों को लागू करना है"। भारतीय संदर्भ में अनुच्छेद 38 (सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय), 39 (सामाजिक समानता), 41 (काम करने का अधिकार), 42 (काम की मानवीय स्थिति और मातृत्व लाभ), 43 (जीवनयापन लायक पारिश्रमिक) और 43 -ए (प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी) को औद्योगिक न्यायशास्त्र का 'मैग्नाकार्टा' माना जाता है।

अनुच्छेद 38 कहता है कि राज्य एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित करने का प्रयास करेगा जिसमें लोगों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक

न्याय सुनिश्चित हो। उप-अनुच्छेद (2), जिसे बाद में 1979 में शामिल किया गया था, कहता है, राज्य, विशेष रूप से, आय में असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा और व्यक्तियों और लोगों के समूहों के बीच स्थिति, सुविधाओं और अवसरों में असमानताओं को समाप्त करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 39 में विशेष रूप से राज्य को निम्नलिखित सिद्धांतों को प्राप्त करने की दिशा में अपनी नीति को निर्देशित करने को कहा गया है: (अ) काम में पुरुषों और महिलाओं के समान अधिकार, (आ) लोकहित के लिए भौतिक संसाधनों के स्वामित्व और वितरण का नियंत्रण, (इ) धन और उत्पादन के साधनों के संकेंद्रण को रोकना, (ई) पुरुषों और महिलाओं दोनों को समान काम के लिए समान वेतन, (उ) श्रमिकों के स्वास्थ्य और बल, और बच्चों की कोमल आयु की रक्षा और यह सुनिश्चित करना कि आर्थिक आवश्यकता की विवशता से उन्हें नौकरियों में प्रवेश न करना पड़े, और (ऊ) बच्चों और युवाओं को स्वतंत्रता और सम्मान, और शोषण तथा नैतिक और भौतिक परित्याग से संरक्षण। समान काम के लिए समान मजदूरी का विचार 'कानून के समक्ष समान सुरक्षा' के विचार से मेल खाता है और इसे समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 के माध्यम से लागू किया गया है। अनुच्छेद 39 (एफ) राज्य पर अनुच्छेद 23 और 24 के अनुसार वंचित बच्चों की जीविका सुनिश्चित करने और शिक्षा प्रदान करने का दायित्व देता है।

अनुच्छेद 41 कुछ मामलों में काम के अधिकार, शिक्षा के अधिकार और सार्वजनिक सहायता के लिए राज्य की जिम्मेदारी पर प्रकाश डालता है। अनुच्छेद 42 काम की न्यायसंगत और मानवीय परिस्थितियों, और मातृत्व राहत के लिए राज्य के दायित्व का प्रावधान करता है। मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 और कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 इन प्रावधानों के अनुरूप थे। अनुच्छेद 47 राज्य पर पोषण के स्तर और जीवन स्तर को बढ़ाने और सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार करने का कर्तव्य देता है। यह न्यूनतम पारिश्रमिक का आकलन करने के लिए एक मार्गदर्शिका है।

भारत का संविधान बनाते समय श्रम को 'समवर्ती सूची' में रखा गया ताकि केंद्र और राज्य दोनों श्रम पर कानून बना सकें। डॉ. अंबेडकर चाहते थे कि यह संघ सूची में रहे क्योंकि उन्होंने श्रम कानूनों की एकरूपता की आवश्यकता पर बल दिया था। लेकिन भारत शासन अधिनियम, 1935 के अंतर्गत बनाई गई संघीय सरकार ने श्रम कानून को समवर्ती विधायी सूची में शामिल करने की परिकल्पना की, जिसने, अंबेडकर के अनुसार, एक बहुत ही गंभीर स्थिति पैदा कर दी थी

समवर्ती सूची में श्रम के प्रावधान

भारत का संविधान बनाते समय श्रम को 'समवर्ती सूची' में रखा गया ताकि केंद्र और राज्य दोनों श्रम पर कानून बना सकें। डॉ. अंबेडकर चाहते थे कि यह संघ सूची में रहे क्योंकि उन्होंने श्रम कानूनों की एकरूपता की आवश्यकता पर बल दिया था। लेकिन भारत शासन अधिनियम, 1935 के अंतर्गत बनाई गई संघीय सरकार ने श्रम कानून को समवर्ती विधायी सूची में शामिल करने की परिकल्पना की, जिसने, अंबेडकर के अनुसार, एक बहुत ही गंभीर स्थिति पैदा कर दी थी। यदि कोई केंद्रीय कानून नहीं होता, तो प्रत्येक प्रांत अपनी प्रांतीय स्थितियों के अनुसार कानून बना सकता था किंतु यह अन्य प्रांतों से अलग होता। इस प्रकार सामान्य और राष्ट्रीय महत्व के विचारों की उपेक्षा हो जाएगी। यह स्थिति आज भी तब प्रासंगिक दिखती है जब राज्य राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण का विरोध करते हैं। पुन: यह मुद्दा हाल ही में उच्चतम न्यायालय के सामने तब आया जब उसने देखा कि अधिकांश राज्य भवन और अन्य निर्माण श्रमिक कल्याण कानून के धन को अन्य गतिविधियों में लगा रहे हैं। समवर्ती सूची में जो प्रविष्टियाँ श्रम से संबंधित हैं वे हैं खदानों और तेल क्षेत्रों में श्रम और सुरक्षा के नियमन पर प्रविष्टि संख्या 55, श्रमिक संघों और औद्योगिक एवं श्रम विवादों पर प्रविष्टि संख्या 22, संघ के कर्मचारियों से संबंधित औद्योगिक विवादों पर प्रविष्टि संख्या 61, सामाजिक सुरक्षा और बीमा, रोजगार एवं बेरोजगारी पर प्रविष्टि संख्या 23, काम की शर्तों, भविष्य निधि, अमान्यता और वृद्धावस्था पेंशन और मातृत्व सहित श्रम कल्याण पर प्रविष्टि संख्या 24, व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए संघ एजेंसियों और संस्थानों पर प्रविष्टि संख्या 65 ।

श्रम से संबंधित अन्य प्रावधान

जीवन के अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गारंटी अनुच्छेद 21 के तहत दी गई है। इसमें कहा गया है कि कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के बिना किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन या व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 23 मानव के दुर्व्यापार और बलात् श्रम पर रोक लगाता है। अनुच्छेद 24 बाल श्रम, विशेषकर चौदह वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों, खानों या किसी अन्य खतरनाक पेशे में रोजगार पर रोक लगाता है।

निर्वाह मजदूरी पर अनुच्छेद 43

नीति निदेशक तत्वों के अंतर्गत अनुच्छेद 43[2] 'निर्वाह मजदूरी,' सभ्य जीवन स्तर सुनिश्चित करने वाली काम की परिस्थितियाँ, और सभी क्षेत्रों में अवकाश तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों का पूरा आनंद लेने के लिए प्रावधान करता है। यह अनुच्छेद एक 'निर्वाह मजदूरी' की ओर संकेत करता है न कि 'न्यूनतम मजदूरी'। 42वें संशोधन द्वारा श्रमिक लोगों को एक सभ्य जीवन स्तर के योग्य बनाने के लिए एक 'समाजवादी ढाँचे' का वादा किया गया है।

भारत में त्रिस्तरीय मजदूरी संरचना

भारत जब स्वतंत्र हुआ तब देश के नेताओं ने लोगों की मजदूरी संरचना और जीवन स्तर के बारे में महत्वाकांक्षी सपने पाले थे। स्वतंत्र भारत की नई सरकार ने भविष्य की मजदूरी संरचना का प्रस्ताव बनाने के लिए नवंबर 1948 में 'उचित मजदूरी समिति' का गठन

किया। 1949 में उचित मजदूरी समिति की सिफारिशें मजदूरी से संबंधित हमारे कानून का आधार बनीं। समिति ने सिफारिश की कि श्रमिकों की मजदूरी कुछ समय के भीतर तीन स्तरों के माध्यम से आगे बढ़नी चाहिए। ये हैं: (1) देश के प्रत्येक कामकाजी व्यक्ति को 'न्यूनतम मजदूरी' सुनिश्चित किया जाना चाहिए, (2) फिर इसे 'उचित मजदूरी' नामक उच्च स्तर तक बढ़ाया जाना चाहिए, (3) इसके बाद इसे 'निर्वाह मजदूरी' के उच्चतम स्तर तक पहुंचना चाहिए। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने राप्टाकोस ब्रेट मामले (एआईआर 1992 एससी 504) में मजदूरी की ऐसी ही अवधारणा की चर्चा की। "मोटे तौर पर, मजदूरी संरचना को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है- (1) आधारभूत 'न्यूनतम मजदूरी' मात्र जीवन निर्वाह कराती है और यह गरीबी रेखा का स्तर है। (2) थोड़ा ऊपर 'उचित मजदूरी' है। (3) अंत में, 'निर्वाह मजदूरी' आरामदायक जीवन के स्तर पर आती है। पर सटीक रूप से इन मजदूरी संरचना स्तरों का सीमांकन करना असंभव है। फिर भी कुछ ऐसे स्वीकृत मानदंड हैं जो मोटे तौर पर एक श्रेणी के मजदूरी ढाँचे को दूसरे से अलग करते हैं।" भारतीय समाज की आकांक्षाओं को सर्वोच्च न्यायालय के शब्दों में तब प्रतिबिंबित किया गया था जब उसने हिंदुस्तान टाइम्स लिमिटेड मामले (एआईआर 1952 एससी 1352) में मजदूरी परिवर्तन की व्याख्या की थी : सीढ़ी के निचले भाग में न्यूनतम मूल मजदूरी है जो किसी भी औद्योगिक श्रम के नियोक्ता को उद्योग के रूप में जारी रखने की अनुमति देने के लिए भुगतान करना होगा। इसके ऊपर उचित मजदूरी है, जिसे मोटे तौर पर आवश्यकता-आधारित न्यूनतम के करीब कहा जा सकता है, एक ऐसे मजदूरी के अर्थ में जो सभ्य समाज में एक इंसान के रूप में माने जाने वाले औसत कर्मचारी की सामान्य जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त है। उचित मजदूरी से ऊपर 'निर्वाह मजदूरी' है - एक ऐसी मजदूरी जो औद्योगिक दक्षता की उच्चतम स्थिति में कामगार को बनाए रखेगी, जो उसे अपने परिवार को वे सभी भौतिक चीजें प्रदान करने में सक्षम बनाएगी जो उनके स्वास्थ्य और शारीरिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं, एक नागरिक के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के योग्य होने के लिए पर्याप्त है।"

'उचित मजदूरी समिति रिपोर्ट' (पृ. 6) पश्चिम में विकसित मजदूरी के विचार की व्याख्या करती है: "संयुक्त प्रांत श्रम जांच समिति के अनुसार, मजदूरी को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया था, जैसे गरीबी स्तर, न्यूनतम निर्वाह स्तर, निर्वाह प्लस स्तर, और आराम स्तर।" तीसरी श्रेणी उचित मजदूरी और चौथी श्रेणी निर्वाह मजदूरी के निकट आती है। 'ऑस्ट्रेलिया राष्ट्रमंडल के लिए मूल मजदूरी पर रॉयल कमीशन' द्वारा निर्धारित परीक्षणों को उचित मजदूरी समिति रिपोर्ट द्वारा समर्थन दिया गया है, और एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स प्राइवेट लिमिटेड और अन्य बनाम द यूनियन ऑफ इंडिया और अन्य मामले में उच्चतम न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की बेंच द्वारा व्यापक रूप से अनुमोदित किया गया है। (एआईआर 1958 एससी 578: 1959 1 एससीआर 12)

अनुच्छेद 43 - "निर्वाह मजदूरी" की संवैधानिक अवधारणा का अग्रसारण

समिति की रिपोर्ट (पृ. 8) न्यूनतम मजदूरी के विचार के बारे में कहती है: "न्यूनतम मजदूरी को न केवल जीवन को गुजारने बल्कि कार्यकर्ता की दक्षता के संरक्षण की चिंता भी करनी चाहिए। इस उद्देश्य के लिए न्यूनतम मजदूरी में कुछ हद तक शिक्षा, चिकित्सा आवश्यकताओं और सुविधाओं का भी प्रावधान होना चाहिए। उचित मजदूरी "उद्योग सह क्षेत्र सूत्र" के आधार पर उस क्षेत्र के अन्य समान उद्योगों में तुलनात्मक मजदूरी पर विचार करेगी।

निर्वाह मजदूरी को संविधान में निहित एक आदर्श के रूप में प्राप्त करने के लिए

साभार : https://www.deccanherald.com/opinion/panorama/why-constitution-is-a-de-facto-charter-of-labour-rights-958221.html

माना गया है। निर्वाह मजदूरी उपलब्ध सभी सुविधाओं के साथ एक सभ्य जीवन स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। 1912 के दक्षिण ऑस्ट्रेलियाई अधिनियम के अनुसार निर्वाह मजदूरी का अर्थ है "एक ऐसे इलाके में रहने वाले औसत कर्मचारी की सामान्य और उचित जरूरतों के लिए पर्याप्त राशि जहाँ विचाराधीन काम किया जाता है या किया जाना है।" उचित मजदूरी समिति के अनुसार, निर्वाह मजदूरी उचित मजदूरी के उच्च स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। समिति की रिपोर्ट (पृ. 6) निर्वाह मजदूरी की अवधारणा की व्याख्या करती है: "निर्वाह मजदूरी को कमाने वाले पुरुष को अपने और अपने परिवार के लिए न केवल भोजन, कपड़े और आश्रय की जरूरी चीजें प्रदान करने में सक्षम होना चाहिए बल्कि मितव्ययी आराम का एक उपाय भी प्रदान करना चाहिए जिसमें बच्चों के लिए शिक्षा, खराब स्वास्थ्य से सुरक्षा, आवश्यक सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति, और वृद्धावस्था सहित अधिक महत्वपूर्ण दुर्भाग्य के विरुद्ध बीमा का एक उपाय शामिल है।"

निर्वाह मजदूरी पर सुप्रीम कोर्ट

न्यायिक प्रवृत्ति उचित मजदूरी और निर्वाह मजदूरी के बीच के अंतर को कम करना था। जय दीप इंडस्ट्रीज मामले (एआईआर 1972 एससी 605) में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि अधिनियम के तहत मजदूरी की न्यूनतम दरों के निर्धारण के बाद भी, यह एक औद्योगिक न्यायाधिकरण के लिए खुला था कि वह केस की परिस्थितियों के आधार पर उच्च या निम्न दरों पर न्यूनतम मजदूरी तय करे। स्टैंडर्ड वैक्यूम रिफाइनिंग कंपनी मामले में भारत का सर्वोच्च न्यायालय मजदूरी की तीन श्रेणियों के विचारों को अलग करने में कठिनाई की ओर संकेत करता है: "मजदूरी संरचना के संबंध में, मजदूरी को तीन व्यापक श्रेणियों में विभाजित करना सामान्य है: मूल न्यूनतम मजदूरी गुजारा करने की मजदूरी है; इसके ऊपर उचित मजदूरी है, और उचित मजदूरी से आगे निर्वाह मजदूरी है। यह स्पष्ट है कि इन तीन मजदूरी की अवधारणाओं को निश्चित शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता है क्योंकि उनकी सामग्री लोचदार है, और वे समय और देश के हिसाब से परिवर्तित होने के लिए बाध्य हैं। कभी-कभी मजदूरी की उक्त तीन श्रेणियों को गरीबी स्तर, गुजारा स्तर और आराम या शालीनता स्तर के रूप में वर्णित किया जाता है। इन अवधारणाओं को पर्याप्त सटीकता देने के कार्य का प्रयास करना कठिन और अक्षम्य भी होगा।[3] इसी मामले में, उच्चतम न्यायालय ने उचित मजदूरी के विचार को स्पष्ट करने के लिए विदेशी न्यायाधीशों के प्रयासों का हवाला दिया है: "समय-समय पर इन संबंधित अवधारणाओं की विषयवस्तु का सामान्य रूप से वर्णन करने के कई प्रयास किए गए हैं। इन प्रयासों में सबसे प्रसिद्ध श्री जस्टिस हिगिंस द्वारा 1907 में अपने उस फैसले में किया गया था जिसे आमतौर पर हार्वेस्टर केस कहा जाता है। 'सुलह और मध्यस्थता के कॉमनवेल्थ कोर्ट' के अध्यक्ष के रूप में बैठकर इस विद्वान न्यायाधीश ने सवाल उठाया कि वह मॉडल या मानदंड क्या है जिसके द्वारा उचितता या तर्कसंगतता निर्धारित की जानी है, और उन्होंने इसका उत्तर यह कहते हुए दिया कि "एक अकुशल मजदूर के मामले में एक उचित और तर्कसंगत मजदूरी एक औसत कर्मचारी, जिसे सभ्य समुदाय में रहने वाले एक व्यक्ति के रूप में जाना जाता है, की सामान्य जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त राशि होनी चाहिए।" साथ ही, उसी मामले में सर्वोच्च न्यायालय स्पष्ट करता है कि ये मानदंड अलग-अलग देशों में अलग-अलग हैं: "एक देश में गुजारा मजदूरी दूसरे देश में गुजारा स्तर से बहुत नीचे दिखाई दे सकती है: उचित मजदूरी और निर्वाह मजदूरी के बारे में भी यही सच है: एक देश में उचित मजदूरी को दूसरे देश में निर्वाह मजदूरी के रूप में माना जा सकता है, जबकि एक देश में जिसे निर्वाह मजदूरी के रूप में माना जा सकता है वही दूसरे देश में उचित मजदूरी से अधिक नहीं हो सकता है।"

न्यायिक प्रवृत्ति उचित मजदूरी और निर्वाह मजदूरी के बीच के अंतर को कम करना था। जय दीप इंडस्ट्रीज मामले (एआईआर 1972 एससी 605) में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि अधिनियम के तहत मजदूरी की न्यूनतम दरों के निर्धारण के बाद भी, यह एक औद्योगिक न्यायाधिकरण के लिए खुला था कि वह केस की परिस्थितियों के आधार पर उच्च या निम्न दरों पर न्यूनतम मजदूरी तय करे। स्टैंडर्ड वैक्यूम रिफाइनिंग कंपनी मामले में भारत का सर्वोच्च न्यायालय मजदूरी की तीन श्रेणियों के विचारों को अलग करने में कठिनाई की ओर संकेत करता है

श्री सत्य नारायण तुलसी मानस बनाम कर्मकार मुआवजा आयुक्त (दिनांक 26 मई 2006) के मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने कहा, "अनुच्छेद 43 में निहित 'निर्वाह मजदूरी' शब्द का अर्थ वह मजदूरी है जिसके द्वारा एक कर्मचारी अपने जीवन को उन सभी सुविधाओं के साथ, जिन्हें सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विभिन्न निर्णयों में अनुच्छेद 21 में समाहित और निहित बताया गया है, गरिमामय तरीके से जी सकता है।" 'निर्वाह मजदूरी' सभी श्रमिकों को एक निर्वाह मजदूरी और काम की उस स्थिति को सुनिश्चित करने के लिए है जिसमे वह एक सभ्य जीवन स्तर और अवकाश एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवसरों का पूरा आनंद ले सके। संविधान के निर्देशक सिद्धांतों में स्थित अनुच्छेद 43 में उल्लिखित 'अन्यथा' शब्द को अनुच्छेद 21 के साथ पढ़े जाने पर ऐसे श्रमिकों के मामले को पूरी तरह से दृष्टिगत किया जा सकता है।"

सामाजिक न्याय और सर्वोच्च न्यायालय

हमारे देश में उच्चतर न्यायालयों ने श्रम संबंधों के क्षेत्र में संविधान के प्रावधानों में निहित सामाजिक प्रगति को लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने सामाजिक-आर्थिक न्याय के विस्तृत क्षितिज को खोल दिया है। इसमें उचित वेतन, काम करने की मानवीय स्थिति हासिल करना, निश्चिंत सेवानिवृत्ति आदि शामिल हैं।

लिप्टन लिमिटेड केस (एआईआर 1959 एससी 676) में उच्चतम न्यायलय ने कहा कि न्यूनतम मजदूरी तय करने में श्रमिकों के दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए। इस तरह का मजदूरी उद्योग में पहला शुल्क होना चाहिए। वडाला फैक्ट्री केस (एआईआर 1986 एससी 1794) ने सामाजिक न्याय के उद्देश्य को और आगे यह कहते हुए बढ़ाया कि श्रमिकों की मजदूरी संरचना को सामान्य रूप से उनके हितों के विरुद्ध संशोधित नहीं किया जाना चाहिए। क्राउन एल्युमिनियम वर्क्स केस (एआईआर 1958 एससी 30) और (एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स मामले में भी) में न्यायमूर्ति श्री गजेंद्रगडकर ने कहा कि आधुनिक विकसित कल्याणकारी राज्य में भुखमरी की मजदूरी पर श्रमिकों के रोजगार को प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता है।

न्यूनतम मजदूरी की अवधारणा

उच्चतम न्यायालय ने राप्टकोस ब्रेट मामले (एआईआर 1992 एससी 504) में न्यूनतम मजदूरी की अवधारणा को उत्कृष्ट रूप से समझाया : 'न्यूनतम वेतन' की अवधारणा अब 1936 की तरह नहीं है। 1957 भी बहुत पीछे है। एक कर्मचारी का मजदूरी अब एक नियोक्ता और एक कर्मचारी के बीच एक अनुबंध नहीं है। इसमें श्रम कानूनों के तहत सामूहिक सौदेबाजी का बल है। मजदूरी संरचना की प्रत्येक श्रेणी को सामाजिक न्याय की आँच पर परखा जाना है जो आज हमारे समाज का जीवंत तंतु है। 1957 में नई दिल्ली में आयोजित भारतीय श्रम सम्मेलन की त्रिपक्षीय समिति ने मजदूरी नीति की घोषणा की जिसका दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान पालन किया जाना था।" उसी मामले में उच्चतम न्यायालय ने 1957 में भारतीय श्रम सम्मेलन द्वारा घोषित न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण के मानदंडों को स्वीकार किया: "सम्मेलन ने 'न्यूनतम मजदूरी' के निर्धारण के निम्नलिखित पाँच मानदंडों को स्वीकार किया। (i) न्यूनतम मजदूरी की गणना में, मानक मजदूर वर्ग के परिवार को एक ही कमाने वाले के लिए उपभोग इकाइयों से मिलकर बनाया जाना चाहिए; महिलाओं, बच्चों और किशोरों की कमाई की उपेक्षा की जानी चाहिए। (ii) न्यूनतम भोजन की आवश्यकता की गणना कैलोरी के शुद्ध सेवन के आधार पर की जानी चाहिए, जैसा कि डॉ. एक्रोयड द्वारा मध्यम गतिविधि के औसत भारतीय वयस्क के लिए अनुशंसित है। (iii) कपड़ों की आवश्यकता का अनुमान प्रति व्यक्ति खपत 18 गज प्रति वर्ष के हिसाब से लगाया जाना चाहिए, जिससे चार लोगों के औसत श्रमिक परिवार को कुल 72 गज मिले। (iv) आवास के संबंध में, सरकार की औद्योगिक आवास योजना के तहत प्रदान किए गए न्यूनतम क्षेत्र के अनुरूप किराए को न्यूनतम मजदूरी तय करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए। (v) ईंधन, प्रकाश व्यवस्था और व्यय की अन्य 'विविध' मदें कुल न्यूनतम मजदूरी का 20% होनी चाहिए।" उच्चतम न्यायालय ने मजदूरी संरचना के सामाजिक-आर्थिक पहलू को ध्यान में रखते हुए उद्योग में न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिए एक मार्गदर्शक के रूप में निम्नलिखित अतिरिक्त घटकों को जोड़ना आवश्यक समझा: (vi) बच्चों की शिक्षा, चिकित्सा आवश्यकता, त्योहारों/समारोहों सहित न्यूनतम मनोरंजन, और वृद्धावस्था, विवाह आदि के लिए प्रावधान कुल न्यूनतम मजदूरी का 25% होना चाहिए।"

उच्चतम न्यायालय ने आगे स्पष्ट किया: "मजदूरी संरचना जो इन छह घटकों के लगभग आसपास होती दिखाई देती है, वह गुजारा स्तर पर न्यूनतम मजदूरी से अधिक कुछ नहीं है.....। आज के मजदूर की क्रय शक्ति को 30-40 साल पुराने मजदूरी ढाँचे पर आधारित गणना करके ही नहीं आँका जा सकता है। मजदूरी संरचना की श्रेणी निर्धारित करने का एकमात्र उचित तरीका मौजूदा कीमतों के आलोक में संबंधित श्रेणी के प्रत्येक घटक का मूल्यांकन करना है। कीमतों में भारी वृद्धि हुई है, और मुद्रास्फीति चार्ट इतनी तेजी से ऊपर जा रहा है कि श्रम के साथ न्याय करने का एकमात्र तरीका आज के संदर्भ में न्यूनतम मजदूरी के विभिन्न घटकों का धन मूल्य निर्धारित करना है।"

न्यूनतम मजदूरी से कम देना बँधुआ मजदूरी है

एशियाड लेबर केस (एआईआर 1982 एससी 1473) में, मुख्य न्यायाधीश चंद्रचूड़ ने अनुच्छेद 23 के अंतर्गत 'बलात श्रम' की परिभाषा का विस्तार किया और इसमें उन लोगों को 'बलात श्रमिक' के रूप में शामिल किया जिन्हें न्यूनतम मजदूरी से कम भुगतान किया जाता है । संजीत रॉय मामले में, (राजस्थान अकाल राहत कार्य मामला - एआईआर 1983 एससी 328) मुख्य न्यायाधीश चंद्रचूड़ ने कहा: "राज्य को, न्यूनतम मजदूरी से कम के भुगतान पर, प्रभावित व्यक्तियों की असहाय स्थिति का लाभ उठाने या उनसे श्रम या सेवा प्राप्त करने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। सूखे और अभाव की स्थिति के कारण असहाय स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों के खून और पसीने पर उपयोगिता और मूल्य के किसी भी कार्य का निर्माण करने की अनुमति नहीं दी जा सकती है।"

यहां तक कि जिन संस्थानों की स्थापना लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं बल्कि धार्मिक और धर्मार्थ उद्देश्यों के लिए की गई थी, उनके द्वारा भी अपने कर्मियों को न्यूनतम मजदूरी का भुगतान किया जाना है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय श्री सत्य नारायण तुलसी मानस बनाम कर्मकार मुआवजा आयुक्त (दिनांक 26 मई 2006) के मामले में यह स्पष्ट करता है: "भारत के संविधान का अनुच्छेद 14 यह स्पष्ट करता है कि ऐसी संस्थाओं के रोजगार में श्रमिकों के साथ भेदभाव नहीं किया जा सकता है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 21, 38(2) और 43 के प्रावधानों

उच्चतम न्यायालय ने आगे स्पष्ट किया: "मजदूरी संरचना जो इन छह घटकों के लगभग आसपास होती दिखाई देती है, वह गुजारा स्तर पर न्यूनतम मजदूरी से अधिक कुछ नहीं है.....। आज के मजदूर की क्रय शक्ति को 30-40 साल पुराने मजदूरी ढाँचे पर आधारित गणना करके ही नहीं आँका जा सकता है। मजदूरी संरचना की श्रेणी निर्धारित करने का एकमात्र उचित तरीका मौजूदा कीमतों के आलोक में संबंधित श्रेणी के प्रत्येक घटक का मूल्यांकन करना है

को ध्यान में रखते हुए, यह विचार अप्रतिरोध्य है कि ऐसे श्रमिक भी भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत जीवन के अधिकार के रूप में न्यूनतम मजदूरी पाने के हकदार हैं। भारत के संविधान का अनुच्छेद 43 भी इसे स्पष्ट करता है और 'सभी श्रमिकों, कृषि, औद्योगिक या अन्यथा' बताते हुए इनके मध्य कोई भेदभाव नहीं करता है, और ऐसे सभी श्रमिक निर्वाह मजदूरी पाने के हकदार हैं। यह आगे अनुच्छेद 43 में निहित कानूनी मंशा को स्पष्ट करता है: "जबकि अन्य कर्मचारी राष्ट्रीय और त्योहार की छुट्टियों का आनंद ले सकते हैं, एक उद्योग या कृषि फार्म में श्रमिकों को पूरे समय काम करना चाहिए और किसी भी छुट्टी का लाभ नहीं उठाना चाहिए, यह अनुच्छेद 43 का दर्शन नहीं है। मनुष्य के रूप में, वे ऐसी आराम की अवधि के हकदार हैं जो उन्हें अपने अवकाश का पूरी तरह से आनंद लेने और सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने में सक्षम बनाता है।"

मजदूरी पर ऐतिहासिक संहिता, 2019

हाल ही में, संसद द्वारा पारित मजदूरी संहिता 2019 को भारतीय मजदूर संघ द्वारा ऐतिहासिक और क्रांतिकारी करार दिया गया है क्योंकि भारत में असंगठित क्षेत्र के अंतिम कार्यकर्ता को भी संहिता के तहत न्यूनतम मजदूरी और अन्य मजदूरी कानूनों से जनित लाभ प्राप्त होगा। वर्तमान में, कुल श्रमिकों, विशेष रूप से संगठित क्षेत्र, में से केवल 7% मजदूरी कानूनों से कोई लाभ प्राप्त करते हैं । मजदूरी कानूनों की वर्तमान प्रमुख कमियों को संहिता में ठीक कर दिया गया है, जैसे, सार्वभौमिक क्रियान्वयन की कमी, केवल कुछ अनुसूचित क्षेत्रों के लिए लागू, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों और नौकरियों के लिए अलग-अलग मजदूरी, आदि। संहिता ने न्यूनतम मजदूरी के लिए विभिन्न क्षेत्रों को अनुसूचित करने की पुरानी प्रणाली को हटा दिया है।

प्रबंधन में भागीदारी पर अनुच्छेद 43 ए

श्रमिकों की भागीदारी औद्योगिक लोकतंत्र का एक हिस्सा है। 'उद्योगों के प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी' पर अनुच्छेद 43ए 1976 में 42वें[4] संशोधन द्वारा बाद में जोड़ा गया है। इस अनुच्छेद का उद्देश्य औद्योगिक लोकतंत्र की शुरुआत और न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर के शब्दों में "औद्योगिक बंधुआ मजदूरी का अंत" करना है।

हाल ही में, संसद द्वारा पारित मजदूरी संहिता 2019 को भारतीय मजदूर संघ द्वारा ऐतिहासिक और क्रांतिकारी करार दिया गया है क्योंकि भारत में असंगठित क्षेत्र के अंतिम कार्यकर्ता को भी संहिता के तहत न्यूनतम मजदूरी और अन्य मजदूरी कानूनों से जनित लाभ प्राप्त होगा। वर्तमान में, कुल श्रमिकों, विशेष रूप से संगठित क्षेत्र, में से केवल 7% मजदूरी कानूनों से कोई लाभ प्राप्त करते हैं। मजदूरी कानूनों की वर्तमान प्रमुख कमियों को संहिता में ठीक कर दिया गया है, जैसे, सार्वभौमिक क्रियान्वयन की कमी, केवल कुछ अनुसूचित क्षेत्रों के लिए लागू, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों और नौकरियों के लिए अलग-अलग मजदूरी, आदि

उच्चतम न्यायालय नेशनल टेक्सटाइल वर्कर्स बनाम पी आर रामकृष्णन और अन्य (एआईआर 1983 एससी 75 एससीत 1983 (1) 9) (पांच जजों की बेंच) के मामले में, अनुच्छेद 43 ए की दृष्टि को सुस्पष्ट करते हुए, इसकी भावना को समाजवाद के संवैधानिक लक्ष्य से जोड़ता है: अत: संवैधानिक जनादेश स्पष्ट और निस्संदेह है कि उद्यम का प्रबंधन पूरी तरह से पूंजी के आपूर्तिकर्ताओं के हाथों में नहीं छोड़ा जाना चाहिए, बल्कि श्रमिकों को भी इसमें भाग लेने का अधिकार होना चाहिए क्योंकि समाज के समाजवादी ढाँचे में उद्यम, जो आर्थिक शक्ति का केंद्र है, को न केवल पूँजी द्वारा बल्कि श्रम द्वारा भी नियंत्रित किया जाना चाहिए। इसलिए, संविधान के लागू होने के बत्तीस साल (निर्णय वर्ष 1982 का है) और विशेष रूप से संविधान में अनुच्छेद 43ए की प्रविष्टि के बाद, यह तर्क देना बेकार है कि, इस सवाल पर कि क्या अदालत के आदेश के तहत उद्यम चलाना जारी रखना चाहिए या बंद कर देना चाहिए, श्रमिकों की कोई आवाज नहीं होनी चाहिए। यह वास्तव में विचित्र होगा कि आर्थिक शक्ति के केंद्र के रूप में उद्यम के निर्माण में योगदान देने वाले श्रमिकों को आर्थिक शक्ति के उस केंद्र को ध्वस्त करने की माँग किए जाने पर सुनने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए।" यहाँ तक कि अप्पू होटल्स लिमिटेड चेन्नई के कर्मचारियों की पाँच सदस्यीय समिति बनाम टूरिज्म फाइनेंस कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड, (2021 की डब्ल्यूपी एसआर नं. 3786, दिनांक 22 जनवरी 2021) में मद्रास उच्च न्यायालय के 2021 के हाल के फैसले ने भी इस संवैधानिक लक्ष्य को पुनर्स्मरण कराया। यहाँ तक कि 1978 के संवैधानिक संशोधन ने भी, जिसने आपातकालीन अवधि के दौरान किए गए कई परिवर्तनों को सुधारा और साथ ही आपातकाल की घोषणा की प्रक्रिया में संशोधन किया, आपातकालीन अवधि के दौरान अनुच्छेद 43ए को शामिल करने में कोई बदलाव नहीं किया। इस संवैधानिक प्रावधान की सराहना करते हुए राजस्थान उच्च न्यायालय ने एच एस चौहान और अन्य बनाम भारतीय जीवन बीमा निगम (1982 डब्ल्यूएलएन 321) में कहा है कि केवल कानून के माध्यम से इस प्रावधान को व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है: "उद्योगों के प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी का "उच्च ध्वनित, सुविचारित, चरम निर्देश, 42 वें संशोधन का एक महत्वपूर्ण स्वर्णिम अवशेष जो 44 वें संशोधन द्वारा रद्द किये जाने व जाँच से बच सका, अभी भी संविधान के अनुच्छेद 43 ए के रूप में प्रतिष्ठापित है। अब इस निर्देशक को स्वीकार किया जाता है और सम्मानित किया जाता है या केवल कानून की सजावट और रोशनी के रूप में रखा जाता है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर विधायिका, न कि न्यायपालिका, निर्णय कर सकती है... राज्य ने कठिन कार्य मानदंड और उनके प्रवर्तन के कठोर उपायों के द्वारा अनुच्छेद 43 ए को कितनी खराब श्रद्धांजलि दी है, यह गंभीर आत्मावलोकन,

ध्यान और आत्मनिरीक्षण का विषय है।" साथ ही, इसने यह भी स्पष्ट किया कि राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत शासन में मौलिक हैं: अनुच्छेद 43 ए 'प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी' के बारे में केवल एक उच्च आदर्श नहीं है वरन सभी संबंधित लोगों को यह नहीं भूलना चाहिए कि अनुच्छेद 37 उन्हें देश के शासन में 'मौलिक' बनाता है और वही अनुच्छेद 37 स्वयं कहता है कि कानून बनाने में इन सिद्धांतों को लागू करना राज्य का कर्तव्य है।"

श्रमिक द्वारा प्रदान किए गए श्रम के कारण ही प्रारंभिक पूँजी समय के साथ बढ़ती है। श्रम को श्रमिकों को जारी किए गए हिस्से या पूँजी में परिवर्तित किया जाना चाहिए। एक बार जब कर्मचारी को यह अनुभूति हो जाती है कि वह भी मालिक है, तो उद्योग के विकास और उत्पादकता में उसका योगदान कई गुना बढ़ जाएगा।

विभिन्न देशों में श्रमीकरण का अनुभव

पश्चिमी समाज में, इतिहास के प्राथमिक चरण के दौरान स्वामी-दास का संबंध था। औद्योगिक क्रांति के दौरान, यह मालिक-नौकर के संबंधों में परिवर्धित हुआ। बाद में, कुछ उन्नत देशों में श्रमिकों की भूमिका बढ़ गई जिससे उद्योग में श्रमिकों की विभिन्न स्तरों पर भागीदारी हुई। उद्योग में श्रमिकों की भागीदारी के तीन पहलू हैं: 1. पूँजी या स्वामित्व में भागीदारी - यह श्रमिकों के बीच इक्विटी शेयरों के वितरण के माध्यम से हो सकता है। 2. प्रबंधन में भागीदारी- यह बोर्ड में कर्मचारी निदेशकों की नियुक्ति के माध्यम से, और बंद करने की कार्यवाही सहित प्रबंधन के विभिन्न पहलुओं पर श्रमिकों के साथ परामर्श के माध्यम से हो सकता है। 3. लाभ का बँटवारा। इन सभी पहलुओं में भागीदारी से उद्योग का श्रमीकरण होगा। भारतीय संविधान केवल दूसरे पहलू की परिकल्पना करता है, अर्थात प्रबंधन में भागीदारी। जब महात्मा गांधीजी ने कहा कि श्रमिकों को प्रबंधन के साथ सह-कार्यकर्ता होना चाहिए, तो भारतीय मजदूर संघ ने माँग की कि श्रमिकों को एक प्रतिष्ठान में सह-मालिक होना चाहिए।

श्रमिकों को शेयर देने का अमेरिकी अनुभव रणनीतिक रूप से अच्छा रहा है। इसने समग्र उत्पादकता में सुधार किया है। फ्रांस, जर्मनी और स्कैंडिनेवियाई देशों जैसे राष्ट्रों ने सह-प्रबंधन और सह-निर्धारणवाद के प्रयोग किए हैं। फ्रांस में जनरल डी गॉल द्वारा तैयार की गई एक योजना थी जिसके तहत बढ़ी हुई पूँजी को श्रमिकों के बीच वितरित किए जाने वाले शेयरों में परिवर्तित किया जाना चाहिए था। वहाँ कर्मचारी प्रतिनिधियों का चयन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से किया जाता है। श्रमिकों को प्रबंधन में भागीदारी प्रदान करके स्वीडन ने अपने उद्योगों में सफलतापूर्वक और लाभप्रद सुधार किया है। पश्चिम जर्मनी, इजराइल और मैक्सिको में, आर्थिक नीति निर्णयों में श्रमिकों की भी भूमिका होती है। इसलिए हड़तालों को काफी कम कर दिया गया। कुछ देशों में संसद में भी कर्मचारी प्रतिनिधित्व है। जर्मन संसद के ऊपरी सदन में 50% तक श्रमिक प्रतिनिधि हैं।

यूगोस्लाविया ने नेशनल रिपब्लिकन असेंबली के निर्देशन और पर्यवेक्षण के तहत श्रमीकरण की अवधारणा को और विकसित किया था। वहाँ यह सरकारी स्वामित्व और श्रमीकरण का एक संयोजन है। यूगोस्लाविया के संविधान में लाभ बाँटने के बजाय श्रमिकों के बीच आय वितरण का उल्लेख है। उनके पास छोटी इकाइयों में सभी श्रमिकों द्वारा प्रत्यक्ष निर्णय लेने और बड़ी इकाइयों में प्रतिनिधि भागीदारी की व्यवस्था है।

श्रमीकरण का भारतीय अनुभव

भारत में ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ श्रमिकों की भागीदारी ने उद्योग की स्थिति में सुधार किया है। ऐसा ही एक उदाहरण जयपुर मेटल्स एंड मिनरल्स था, जो एक बीमार प्रतिष्ठान था किंतु जो बाद में श्रमीकरण के माध्यम से लाभदायक हो गया। वहाँ सहकारी समिति के माध्यम से 50% शेयर श्रमिकों को हस्तांतरित कर दिए गए।

उच्चतम न्यायालय ने नेशनल टेक्सटाइल वर्कर्स बनाम पी आर रामकृष्णन और अन्य (एआईआर 1983 एससी 75 एससीआर 1983 (1) 9) (पांच जजों की बेंच) के मामले में भारतीय संदर्भ में प्रबंधन में भागीदारी के विचार की धरातलीय सीमाओं को समझाया: "जैसा कि आज कानून है, किसी कंपनी के स्वामित्व वाले कारखाने के जन्म में, उसके अस्तित्व के दौरान उसके काम करने में और विघटन से उसकी मृत्यु में भी श्रमिकों का कोई हाथ नहीं होता है। किसी कंपनी के मामलों में श्रमिकों की भागीदारी या औद्योगिक लोकतंत्र का सूत्रपात काफी प्रशंसनीय वस्तु है। संविधान के अनुच्छेद 43-ए को लागू करने का यही कारण है। अनुच्छेद 43-ए स्पष्ट रूप से कहता है कि राज्य उपक्रमों आदि के प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी को सुरक्षित करने के लिए उपयुक्त कानून या किसी अन्य तरीके से कदम उठाएगा।"

उसी मामले में उच्चतम न्यायालय ने कंपनी के मामलों में इस समस्या के समाधान का प्रस्ताव दिया: यदि श्रमिकों को शेयर जारी किए जाते हैं, तो वे निश्चित रूप से अंशदाता के रूप में समापन कार्यवाही में भाग लेने के हकदार होंगे। यह विधायी माध्यमों

श्रमिकों को शेयर देने का अमेरिकी अनुभव रणनीतिक रूप से अच्छा रहा है। इसने समग्र उत्पादकता में सुधार किया है। फ्रांस, जर्मनी और स्कैंडिनेवियाई देशों जैसे राष्ट्रों ने सह-प्रबंधन और सह-निर्धारणवाद के प्रयोग किए हैं। फ्रांस में जनरल डी गॉल द्वारा तैयार की गई एक योजना थी जिसके तहत बढ़ी हुई पूँजी को श्रमिकों के बीच वितरित किए जाने वाले शेयरों में परिवर्तित किया जाना चाहिए था। वहाँ कर्मचारी प्रतिनिधियों का चयन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से किया जाता है। श्रमिकों को प्रबंधन में भागीदारी प्रदान करके स्वीडन ने अपने उद्योगों में सफलतापूर्वक और लाभप्रद सुधार किया है

से समस्या को हल करने का एक तरीका हो सकता है। एक अन्य तरीका कंपनी के परिसमापन से संबंधित मामलों में कर्मचारी प्रतिनिधि को एक मंच प्रदान करने का भी है। एच एस चौहान और अन्य बनाम भारतीय जीवन बीमा निगम (1982 डब्ल्यूएलएन 321) में राजस्थान उच्च न्यायालय ने उद्योग में कार्य मानदंडों के निर्धारण में श्रमिकों की भूमिका को स्पष्ट किया: "अत:, कार्य मानदंडों का एकतरफा निर्धारण औद्योगिक विवाद अधिनियम और निर्देशक सिद्धांतों, जिसमें 42वें संशोधन के बाद प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी का प्रावधान है, जैसे सामाजिक-आर्थिक प्रगतिशील कानूनों की मंशा के विरुद्ध है।"

हमारे बुनियादी श्रम कानून यानि औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के अंतर्गत 100 से अधिक श्रमिकों वाली इकाइयों में एक कार्य समिति का गठन किया जाना है। लेकिन वास्तविक कार्यप्रणाली में, कार्य समिति के निर्णयों को केवल सलाह या मार्गदर्शन के रूप में माना जाता था और प्रबंधन निर्णयों की परवाह नहीं करता है। एक संयुक्त प्रबंधन परिषद सामूहिक समझौतों के माध्यम से बनाई गई एक और प्रणाली है। कई प्रतिष्ठानों में कल्याण और कैंटीन समितियों में कर्मचारी प्रतिनिधि होते हैं। श्रमिकों को एक गुप्त मतदान के माध्यम से कुशल और प्रतिबद्ध प्रतिनिधियों का चयन करने का अधिकार है, चाहे वे प्रमुख यूनियनों से जुड़े हों या छोटी यूनियनों से।

1990 में वी पी सिंह सरकार ने "प्रबंधन में भागीदारी विधेयक" का मसौदा तैयार किया। इसने वास्तव में, भागीदारी के नाम पर श्रमिकों को केवल एक सलाहकार की भूमिका का प्रस्ताव दिया। बिल में कहा गया है कि कामगारों को चार स्तरों पर विविध मंचों में भागीदारी दी जाती है, यथा, कारखाने स्तर की समिति, उद्योग की परिषद, प्रबंधन बोर्ड, और राष्ट्रीय स्तर की निगरानी समिति। यह भी प्रावधान किया जाता है कि मालिक और श्रमिकों के बीच विवाद के मामले में मालिक का निर्णय सर्वोच्च होगा। जर्मनी में, प्रबंधन और कर्मचारी दोनों मिलकर एक सामान्य प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं, और उसका निर्णय अंतिम होता है।

भारतीय मजदूर संघ ने औद्योगिक प्रबंधन पर निर्णय के लिए एक राष्ट्रीय आयोग के गठन की माँग की है।

अब लाख टके का सवाल राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों में निहित दूरदर्शी विचारों को व्यावहारिक रूप देने का है। भारत के संविधान को प्रस्तुत करते हुए, डॉ. अंबेडकर ने कहा: "वास्तव में, अगर मैं ऐसा कह सकता हूँ, अगर नए संविधान के तहत चीजें गलत हो जाती हैं, तो इसका कारण यह नहीं होगा कि हमारा संविधान खराब था। हमें जो कहना होगा वह यह है कि (इसे लागू करने वाला) "मनुष्य घटिया था" (दोष इसे क्रियान्वित करने वालों का होगा। यह सच साबित तब हुआ जब संविधान के प्रावधानों का उपयोग करते हुए श्रीमती इंदिरा गांधी ने 1975 में आपातकाल की घोषणा करके भारत को अंधयुग की ओर अग्रसर किया

निष्कर्ष

अब लाख टके का सवाल राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों में निहित दूरदर्शी विचारों को व्यावहारिक रूप देने का है। भारत के संविधान को प्रस्तुत करते हुए, डॉ. अंबेडकर ने कहा: "वास्तव में, अगर मैं ऐसा कह सकता हूँ, अगर नए संविधान के तहत चीजें गलत हो जाती हैं, तो इसका कारण यह नहीं होगा कि हमारा संविधान खराब था। हमें जो कहना होगा वह यह है कि (इसे लागू करने वाला) "मनुष्य घटिया था" (दोष इसे क्रियान्वित करने वालों का होगा)। यह सच साबित तब हुआ जब संविधान के प्रावधानों का उपयोग करते हुए श्रीमती इंदिरा गांधी ने 1975 में आपातकाल की घोषणा करके भारत को अंधयुग की ओर अग्रसर किया। निर्वाह मजदूरी के लिए संवैधानिक प्रावधान के बावजूद, न्यूनतम मजदूरी आज भी अधिकांश भारतीयों के लिए एक दूर का सपना है, उचित मजदूरी और जीवनयापन की तो बात ही दूर है। राप्तकोस ब्रेट मामले (एआईआर 1992 एससी 504) में उच्चतम न्यायालय ने कहा: "श्रमिक संभवत: उक्त आदर्श को प्राप्त करने की ओर तत्परता से देख रहे हैं। वादों का अंबार है, लेकिन उनके पूरा होने का दिन कहीं नजर नहीं आता। समग्र रूप से देखें तो औद्योगिक मजदूरी अभी तक न्यूनतम मजदूरी के स्तर से अधिक नहीं बढ़ी है।" इस प्रकार, जब हम भारत की स्वतंत्रता के 75वें वर्ष का हर्ष मना रहे हैं, तो संविधान पर दृष्टिपात करने और यह देखने का समय आ गया है कि क्या हम स्वतंत्रता सेनानियों की आकांक्षाओं को साकार कर सके हैं। इसे सुधारने का यह सबसे उपयुक्त समय है।

संदर्भ

1. संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951, धारा 3, उपबंध (2) द्वारा प्रतिस्थापित। (पूर्वव्यापी प्रभाव से)
2. अनुच्छेद 43: श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी, आदि- राज्य, उपयुक्त विधान या आर्थिक संगठन द्वारा या किसी अन्य रीति से कृषि के, उद्योग के या अन्य प्रकार के सभी कर्मकारों को काम, निर्वाह मजदूरी, शिष्ट जीवनस्तर और अवकाश का संपूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएं तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा और विशिष्टतया ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक या सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।
3. स्टैंडर्ड वैक्यूम रिफाइनिंग कंपनी बनाम इसके कर्मचारी और अन्य एआईआर 895: 1961 एससीआर (3) 536
4. अनुच्छेद 43ए. "उद्योगों के प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी। - राज्य किसी भी उद्योग में लगे उपक्रमों, प्रतिष्ठानों या अन्य संगठनों के प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी को सुरक्षित करने के लिए उपयुक्त कानून या किसी अन्य तरीके से कदम उठाएगा।"

समान नागरिक संहिता और वैयक्तिक विधि

अनुच्छेद 13 में दो नए उपखंड जोड़ने के प्रस्ताव को लेकर संविधान सभा में एक विचारोत्तेजक बहस हुई। समान नागरिक संहिता के इर्दगिर्द केंद्रित इस बहस पर एक दृष्टि

संविधान सभा में जब अनुच्छेद 13 पर बहस चल रही थी, तभी मद्रास के एक सदस्य मोहम्मद इस्माइल ने इसमें दो नए उपखंड जोड़ने का प्रस्ताव रखा था। उनके इस प्रस्ताव पर विचारोत्तेजक बहस हुई। यह बहस वस्तुतः समान नागरिक संहिता, जिसे इसमें एकविध व्यवहार संहिता कहा गया है, से संबंधित है। अपने संविधान में सन्निहित इस तत्त्व की संभावना को समझने में इस बहस का अध्ययन काफी हद तक सहायक हो सकता है।

***मि. मोहम्मद इस्माइल साहब (मद्रास : मुस्लिम) :** श्रीमान्, मैं यह उपस्थित करता हूँ कि :

"अनुच्छेद 13 के खंड (1) के उपखंड (छ) के बाद निम्नलिखित नया उपखंड जोड़ा जाय :

(h) to follow the personal law of the group or community to which he belongs or professes to belong-

(i) to personal liberty and to be tried by a competent court of law in case such liberty is curtailed-"

[(ज) उस समुदाय अथवा संप्रदाय के वैयक्तिक कानून का अनुसरण करने का जिसका कि वह सदस्य हो अथवा जिसका सदस्य होने की उसने घोषणा की हो।

(झ) वैयक्तिक स्वतंत्रता का और इस स्वतंत्रता के सीमित होने पर किसी अधिकृत न्यायालय द्वारा न्याय किए जाने का

***श्री सी. सुब्रह्मण्यम् (मद्रास जनरल) :** श्रीमान्, मुझे एक औचित्य प्रश्न करना है। यह सभा निदेशक सिद्धांतों के अध्याय में इस आशय के एक अनुच्छेद को स्वीकार कर चुकी है कि एकविध व्यवहार-संहिता होनी चाहिए। अब माननीय सदस्य महोदय यह प्रस्तुत करना चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को उस समुदाय अथवा संप्रदाय के वैयक्तिक कानून का अनुसरण करने का स्वातंत्र्य होना चाहिए जिसका कि वह सदस्य हो अथवा जिसका सदस्य होने की उसने घोषणा की हो। यह उस अनुच्छेद के विरोध में है जो स्वीकार हो चुका है। हम यह निर्णय कर चुके हैं कि जहाँ तक संभव हो वैयक्तिक कानून एकविध व्यवहार-संहिता के अधीन होना चाहिए और यह संशोधन उस अनुच्छेद के सिद्धांत के विरुद्ध है।

जहाँ तक संशोधन के दूसरे भाग का संबंध है, उस पर उस समय विचार विमर्श होना चाहिए जब हम अनुच्छेद 15 को उठाएँ।

उपाध्यक्ष : यह कोई औचित्य प्रश्न नहीं है। मि. मोहम्मद इस्माइल अपना भाषण जारी रख सकते हैं।

मि० मोहम्मद इस्माइल साहब : वास्तव में जब निदेशक सिद्धांतों पर विचार-विमर्श हो रहा था तो मैंने इसी प्रकार का प्रस्ताव रखा था। स्पष्ट कर दिया था कि वैयक्तिक कानून का यह प्रश्न मूलाधिकारों के अध्याय के अधीन रखा जाना चाहिए और मैंने यह भी कहा था कि मैं इस संशोधन को उचित अवसर पर उपस्थित करूंगा ।

वैयक्तिक कानून लोगों के उस समुदाय अथवा वर्ग के धर्म का अंग है जो उस कानून का अनुसरण करता है। यदि कोई बात वैयक्तिक कानून में हस्तक्षेप करती है तो वह समुदाय और जनसाधारण, जो अपनी साधारण बुद्धि से इस प्रश्न पर विचार करेंगे, इसे धर्म में हस्तक्षेप समझेंगे। पहले एक अवसर पर इस विषय पर बोलते हुए श्री मुंशी ने कहा था कि इस प्रश्न का धर्म से कोई संबंध नहीं है। उन्होंने यह भी कहा था कि आखिर इसका धर्म से क्या संबंध। एक प्रतिष्ठित वकील होने के नाते उन्हें यह जानना

चाहिए कि वैयक्तिक कानून का यह प्रश्न केवल धर्म पर ही आधृत है। यदि वह धार्मिक नहीं है तो वह कुछ भी नहीं है। यदि वे यह कहते हैं कि किसी धर्म में ऐसी बातें न होनी चाहिए तो यह दूसरी बात है। यह प्रश्न तो उन विपरीत विचारधाराओं का है जिनका संबंध इससे है कि धर्म में क्या होना चाहिए और क्या न होना चाहिए। लोगों में मतैक्य नहीं होता है और इस संबंध में विभिन्न विचार रखने वाले लोगों को एक-दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति सहिष्णुता दिखानी चाहिए। कुछ धर्म ऐसे हैं जिनमें वैयक्तिक कानून का कोई स्थान नहीं है परंतु हिंदू धर्म और इस्लाम के समान कुछ ऐसे धर्म हैं जिनमें वैयक्तिक कानून का स्थान है। इसलिए मेरा यह कहना है कि लोगों को अपने वैयक्तिक कानून का अनुसरण करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

डा० अंबेडकर ने इस सभा में यह भी कहा था कि वैयक्तिक कानून के अनुसरण का प्रश्न ऐसा नहीं है जिसमें परिवर्त्तन न हो, जो स्थायी हो। वास्तव में मुसलमानों में भी कुछ वर्ग ऐसे हैं जो इस्लाम के वैयक्तिक कानून का अनुसरण नहीं करते हैं, परंतु यह प्रश्न दूसरा ही है। यह कहना उचित नहीं है कि चूँकि एक वर्ग किसी धर्म के किसी कानून का अथवा उस धर्म के किसी अंग का अनुसरण नहीं करना चाहता, इसलिए अन्य लोगों को भी उसका अनुसरण न करना चाहिए और उनको धर्म के उस अंग को न मानने के लिए बाध्य न किया जाना चाहिए जिसे उसी संप्रदाय के कुछ वर्ग न मानते हों।

श्रीमान्, यह उचित नहीं है, वास्तव में उन लोगों के लिए तो अपने धर्म का और अपने इस कानून का अनुसरण करते हैं। यह कानून स्थायी है क्योंकि, जैसा कि समझा जाता है, लोगों को अपनी इच्छानुसार धर्म में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने धर्म का खंडन करते हैं परंतु उन लोगों की बात अलग है। हम अन्य लोगों को अपने धर्म का खंडन करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। वैयक्तिक कानून का संबंध उन्हीं लोगों से है जो उसका अनुसरण करते हैं। इससे सारे संप्रदाय के लिए अथवा जनसाधारण के लिए कोई बंधन नहीं होता। इस सभा को स्मरण होगा कि एक अन्य प्रश्न के संबंध में जो वास्तव में धार्मिक प्रश्न है- मेरा अर्थ गो-बध के प्रश्न से है-उस संप्रदाय के अतिरिक्त जो गो-बध निषेध को एक धार्मिक प्रश्न समझता है, अन्य संप्रदायों पर भी एक प्रकार का दायित्व रखा गया है। श्रीमान्, अपने मित्रों के विचारों और भावनाओं का आदर करते हुए अल्पसंख्यकों ने, जिनको गो-बध करने और गो-मांस भक्षण करने का अधिकार है, सभा के सम्मुख जो प्रस्ताव था उसे स्वीकार कर लिया यद्यपि यह प्रश्न ऐसा था जिसका केवल

श्री सी. सुब्रह्मण्यम्

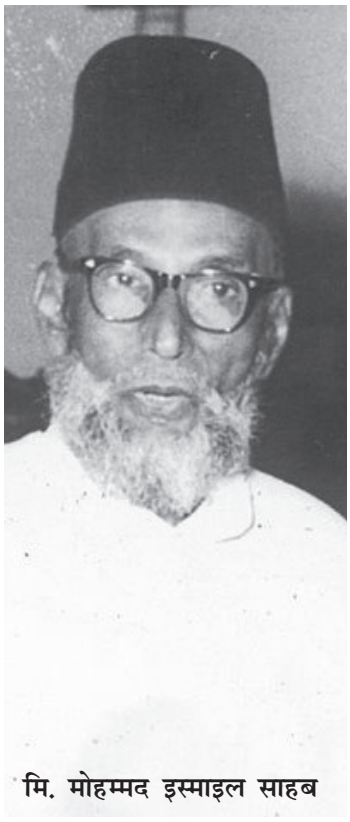
मि. मोहम्मद इस्माइल साहब

पंडित ठाकुरदास भार्गव

एक विशेष संप्रदाय पर प्रभाव न पड़ता था। परंतु श्रीमान्, वैयक्तिक कानून को मानने का प्रश्न केवल उन विशेष संप्रदायों से संबंध रखता है जो उसका अनुसरण करते हैं। किसी दूसरे संप्रदाय को बाध्य करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

***पंडित ठाकुरदास भार्गव :** मैं माननीय सज्जन से यह पूछ रहा था कि क्या उन्हें यह ज्ञात है कि पाकिस्तान, अफगानिस्तान और कई मुस्लिम देशों में गो-बध पर आयंत्रण है। भारत में भी मुसलमान बादशाहों ने ऐसे आयंत्रण रखे थे।

***मि० मोहम्मद इस्माइल साहब :** उन्होंने इस प्रकार की व्यवस्था की हो या न की हो, मैं यह कहना चाहता हूँ कि इस प्रश्न का संबंध एक विशेष संप्रदाय से है परंतु चूँकि वह संप्रदाय इस बध को बंद कराना चाहता था, अन्य संप्रदाय जिसे इसे रोकने की आवश्यकता न थी, इसके लिए राजी हो गया। वैयक्तिक कानून से एक ऐसे विशेष संप्रदाय का संबंध है जो विशेष प्रकार के वैयक्तिक कानूनों का अनुसरण करता रहा है और इस संबंध में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि अन्य लोगों को उस कानून का अनुसरण करने के लिए बाध्य किया जाए। यह प्रश्न तो अल्पसंख्यकों के अथवा बहुसंख्यकों के अपने वैयक्तिक कानून का अनुसरण करने की स्वतंत्रता का है। वास्तव में मैं जानता हूँ कि असंख्य हिंदू ऐसे हैं जो वैयक्तिक कानून में हस्तक्षेप को धर्म में हस्तक्षेप समझते हैं। श्रीमान्, मुझे ज्ञात है कि उन्होंने अधिकारियों के पास अथवा उन लोगों के पास जिनका इस विषय से संबंध है, एक बहुत बड़ा प्रार्थना पत्र भेजा है। इसलिए केवल मुसलमानों का ही नहीं बल्कि हिन्दुओं का भी यह विचार है कि यह एक धार्मिक प्रश्न है और इसमें हस्तक्षेप न होना चाहिए। किसी संप्रदाय के वैयक्तिक कानून से अन्य संप्रदायों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए श्रीमान्, मेरा यह अनुरोध है कि प्रत्येक संप्रदाय को वैयक्तिक कानून का अनुसरण करने की स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। इससे अन्य संप्रदायों के अधिकारों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होगा।

इसके अतिरिक्त श्री मुंशी ने यह भी कहा कि मिस्र अथवा तुर्की ऐसे मुस्लिम देशों में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। श्रीमान्, मैं उन्हें यह स्मरण कराना चाहता हूँ कि तुर्की पर एक संधि का दायित्व है। उस संधि के अधीन यह प्रत्याभूति दी गई है कि गैर-मुसलमान अल्पसंख्यक अपने पारिवारिक कानून और वैयक्तिक स्थान का नियमन अपनी प्रथाओं के अनुसार करा सकते हैं। तुर्की पर इसका दायित्व है और इस समय उस देश में इसे निभाया जा रहा है।

उन्होंने इस प्रकार की व्यवस्था की हो या न की हो, मैं यह कहना चाहता हूँ कि इस प्रश्न का संबंध एक विशेष संप्रदाय से है परंतु चूँकि वह संप्रदाय इस बध को बंद कराना चाहता था, अन्य संप्रदाय जिसे इसे रोकने की आवश्यकता न थी, इसके लिए राजी हो गया। वैयक्तिक कानून से एक ऐसे विशेष संप्रदाय का संबंध है जो विशेष प्रकार के वैयक्तिक कानूनों का अनुसरण करता रहा है और इस संबंध में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि अन्य लोगों को उस कानून का अनुसरण करने के लिए बाध्य किया जाए। यह प्रश्न तो अल्पसंख्यकों के अथवा बहुसंख्यकों के अपने वैयक्तिक कानून का अनुसरण करने की स्वतंत्रता का है। वास्तव में मैं जानता हूँ कि असंख्य हिंदू ऐसे हैं जो वैयक्तिक कानून में हस्तक्षेप को धर्म में हस्तक्षेप समझते हैं

जहाँ तक मिस्र का संबंध है, उस देश में कभी भी वैयक्तिक कानून का कोई प्रश्न नहीं उठा। परंतु इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है कि उस देश में अल्पसंख्यकों ने जो कुछ चाहा वह उन्हें दिया गया। वास्तव में जो कुछ उन्होंने माँगा उससे अधिक उनको दिया गया। यदि वे वैयक्तिक कानून के संबंध में भी कुछ अधिकार चाहते तो वे भी उनको दिए जाते।

इनके अतिरिक्त अन्य देश भी हैं। यूगोस्लेविया में मुसलमानों को अपने पारिवारिक और वैयक्तिक कानूनों का अनुसरण करने का अधिकार दिया गया है।

इसलिए मैंने जो माँग की है, वह मेरी अपनी कोई विशेष माँग नहीं है अथवा इस देश के अल्पसंख्यक संप्रदाय की कोई विशेष माँग नहीं है। श्रीमान्, इसे संसार के अन्य भागों में भी अच्छी प्रकार समझ लिया गया है।

मि. मोहम्मद इस्माइल साहब, संविधान सभा का वाद-विवाद, पुस्तक सं. 4, खंड-VII(ख), विधान का मसौदा, पृ. 1105-1109

डॉ. के. एम. बहरुल इस्लाम

समान नागरिक संहिता : हमारा रवैया गंभीर नहीं

हमारे राजनीतिक क्षेत्र के सर्वाधिक चर्चित विषयों में से एक है समान नागरिक संहिता जिसके लिए हमारे संविधान में स्पष्ट प्रावधान है। यद्यपि यह अभी भी एक स्वप्न ही है। एक व्यवस्थित अध्ययन

समान नागरिक संहिता पर किसी तरह की चर्चा प्रारंभ होते ही इसके विरुद्ध एक तीव्र भावनात्मक विरोध की आशंका उत्पन्न हो जाती है। इस आशंका में भ्रम, संदेह अविश्वास और कभी-कभी तो अस्तित्व पर संकट का भय भी शामिल रहता है। बिलकुल इसी तरह कुछ लोग इस मुद्दे पर बहुत खुश भी हो जाते हैं। शायद उन्हें लगता है कि इसके लागू होते ही एक समुदाय को व्यक्तिगत कानूनों की आड़ में मिलने वाले सारे लाभ पूरी तरह छिन जाएंगे। समान नागरिक संहिता को लेकर चलने वाले इस द्विपक्षीय विवाद के कारण, इस पर होने वाली बहस कई दशकों से राजनीति, षड्यंत्र और आधारहीन या संदिग्ध सांप्रदायिक रूढ़ियों से ग्रस्त दलदल में फँसी पड़ी है। ऐसे किसी भी विषय पर होने वाली चर्चा के लिए यह आवश्यक है कि वह वस्तुनिष्ठ, आवेगरहित और मानवीय दृष्टिकोण से संपन्न हो। समान नागरिक संहिता को सही परिप्रेक्ष्य के साथ चलाने का यही सबसे विवेकपूर्ण प्रयास होगा।

'समान नागरिक संहिता', भारतीय संविधान के चौथे भाग में (अनुच्छेद 36 से 51 तक) दिए गए नीति निदेशक तत्वों का भाग है। इन निदेशक तत्वों के अनुच्छेद 44 में व्यवस्था दी गई है कि "राज्य संपूर्ण भारत के नागरिकों के लिए समान नागरिक संहिता प्रदान करने का प्रयास करेगा। कुछ लोग यह तर्क भी देते हैं कि इसके अनुच्छेद 37 में प्रावधान है कि निदेशक तत्वों को किसी भी न्यायालय द्वारा प्रवर्तित नहीं किया जाएगा। परंतु वे आसानी से यह भुला देते हैं कि यही अनुच्छेद 37 यह भी कहता है कि इसमें दिए गए सिद्धांत भारतीय शासन-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धांत हैं तथा राज्य का यह कर्तव्य है कि वह कानून बनाते समय इन सिद्धांतों का अनुपालन करे।" इस प्रकार समान नागरिक संहिता देश की प्रशासनिक व्यवस्था का आधारभूत सिद्धांत है और 'राज्य का यह कर्तव्य' है कि इन सिद्धांतों को कानून बनाते समय व्यवहार में लाए। न्यायालयों द्वारा कानूनों को लागू करवाने की बात कानून बनने के पश्चात् आती है और इस प्रकार संविधान के प्रावधानों के अनुसार कानून बनने का प्रश्न पहले उठता है। कुछ लोग 'घोड़े के आगे गाड़ी जोतने' जैसी उलटी बात केवल इसलिए करते हैं ताकि संविधान में नीति निदेशक तत्वों को न्यायालय द्वारा लागू न कराए जाने की चर्चा कर वे संविधान द्वारा निर्देशित इन सिद्धांतों के अनुरूप कानून बनाने की प्रक्रिया को शिथिल कर सकें। यह तथ्य है कि देश ने आजादी के पश्चात तीन-चौथाई शतक तक प्रतीक्षा की है और देश की सरकारें के सरकारें संवैधानिक निर्देशों का पालन करते हुए 'समान नागरिक संहिता' का कानून बनाने में असफल रही हैं। इससे यही स्पष्ट संकेत मिलता है कि इस विषय में हमारा दृष्टिकोण ईमानदार नहीं रहा और कभी-कभी तो पूरी तरह संदिग्ध रहा है।

भारतीय संविधान के स्पष्ट निर्देशों के अतिरिक्त भारत के अनेक न्यायालयों ने भारत सरकार को इस दिशा में कानून बनाने के संकेत दिए परंतु उन्हें अनदेखा किया गया। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्णय तो शाहबानो मामले (1985) में उच्चतम न्यायालय का है, जहाँ माननीय न्यायाधीश दुख व्यक्त करते हुए कहते हैं कि समान नागरिक संहिता, संवैधानिक प्रावधानों के रहते हुए भी 'मृत शब्द' है, निष्प्रभावी है। न्यायालय ने स्पष्ट रूप से कहा, "सरकार की ओर से आधिकारिक रूप से देश के लिए समान नागरिक संहिता बनाने का कोई प्रयास दिखाई नहीं पड़ता। ऐसा लगता है जैसे यह विश्वास जड़ें

पकड़ चुका हो कि अपने व्यक्तिगत कानूनों को सुधारने के लिए मुसलमानों को ही पहल करनी होगी। 'एक समान आचार संहिता' परस्पर विरोधी विचारधाराओं के आधार पर बने कानूनों के प्रति प्रतिबद्धताओं को समाप्त कर राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करेगी। कोई भी समुदाय इस मुद्दे पर उदारता से छूट देकर समस्या के समाधान की पहल नहीं करेगा। अपने नागरिकों को समान नागरिक संहिता प्रदान करना राज्य का ही कर्तव्य है और नि:संदेह राज्य में ऐसा करने की संवैधानिक शक्ति विद्यान है।"[1]

देश के सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 44 के अनुरूप 'समान नागरिक संहिता' बनाने के प्रति राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव की ओर संकेत करते हुए यह भी कहा कि ऐसे विषय पर सभी नागरिकों को उनकी सहमति के आधार पर अपने साथ लेना एक बड़ी चुनौती है ताकि वे अपने धार्मिक कानूनों में सुधार पर सहमत हो जाएँ और न्याय, समता तथा मानवता के कुछ सार्वभौम सिद्धांतों को विवाह और विरासत के नियमों पर लागू कर सकें। यही विचार अन्य अनेक अदालतों के निर्णयों में गूँजता रहा है। जॉर्डन दिएंदे बनाम एस. एस. चोपड़ा (1985) के मुकदमे में न्यायाधीश चिनप्पा रेड्डी ने व्यवस्था देते हुए कहा था कि न्यायालय का यह मानना है कि न्यायिक अलगाव, तलाक और विवाह भंग के कानून विभिन्न 'व्यक्तिगत कानूनों में तर्कसंगत नहीं है इसलिए ऐसे मानक कानूनों का निर्माण आवश्यक है जो धर्म, जाति का अतिक्रमण कर सभी पर समान रूप से लागू हो सकें, ऐसा करना समय की माँग है।[2] एक अन्य न्यायिक फैसले में, जो सरला मौद्गिल बनाम भारत सरकार था, न्यायाधीश कुलदीप सिंह ने इस बात को रेखांकित किया था कि समान नागरिक संहिता कमजोर वर्गों की सहायता करेगी और इससे राष्ट्रीय एकता और एकात्मता को बल मिलेगा। उन्होंने सुझाव दिया था कि सरकार सभी पक्षों से 'लॉ कमीशन'[3] द्वारा विचार विमर्श करते हुए एक व्यापक कानून बनाने की प्रक्रिया प्रारंभ करे जो कि महिलाओं के आधुनिक मानवाधिकारों के अनुरूप हो।[4]

अनुच्छेद 44 में समान नागरिक संहिता का प्रवधान होने तथा अनेक न्यायालयों से इसके पक्ष में सुझाव आने के पश्चात भी समान नागरिक संहिता पर चर्चा संचार माध्यमों, शैक्षणिक जगत और सार्वजनिक मंचों पर अंतहीन उत्तेजक बहसों में उलझ कर रह गई है। आइए हम इस समस्या को समझें। क्या यह कुछ मुसलमानों अथवा मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड जैसी कुछ संस्थाओं के आधारहीन भय का परिणाम है जो कि इसका पूरी ताकत से विरोध करती हैं। संभवत: ऐसी प्रचलित अवधारणा संविधान के अनुच्छेद 35 पर संविधान सभा में हुई बहस पर आधारित है।[5]

संविधान सभा के कुछ सदस्यों जैसे मुहम्मद इस्माइल, नजीरुद्दीन अहमद, महबूब अली वेग, बी. पोकर साहब तथा इमाम हुसैन ने प्रस्ताव रखा था कि 'समान नागरिक संहिता' सभी के लिए बाध्यकारी न बनाई जाए ताकि ऐसे समूहों, वर्गों, समुदायों को जिनके अपने व्यक्तिगत कानून हैं उन्हें छोड़ने को विवश न होना पड़े।"[6] उन्होंने यह संदेह जताया था कि ऐसा कानून बनाना, संविधान में प्रदत्त धार्मिक स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का हनन होगा (जो संविधान के अनुच्छेद 25 (1) द्वारा एक मौलिक अधिकार के रूप में उन्हें दिया गया है। परंतु जो बात तर्कसंगत नहीं लगती, वह यह है कि धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार संविधान के अन्य अनुच्छेदों से पूरी तरह निरपेक्ष नहीं है जैसे कि संविधान के अनुच्छेद 14,15 में दिए गए समता के अधिकार के परिप्रेक्ष्य में। यह भ्रांति समान नागरिक संहिता को लेकर अभी तक बनी हुई है, जब कि कुछ लोग आज भी इसे राज्य के धर्मनिरपेक्ष रूप के विरुद्ध मानते हैं।

दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि आज भी सार्वजनिक विचार विमर्श में 'समान नागरिक संहिता' को, धार्मिक अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यकों की इच्छा लादने का माध्यम माना जाता है। इस विषय में हम महत्वपूर्ण बात को अनदेखा कर देते हैं। अनुच्छेद 25(1) में दिए धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार

का राग अलापते हुए, जिसमें संविधान सभी नागरिकों को किसी भी धर्म को मानने, उसके अनुरूप आचरण करने और उसका प्रचार करने का अधिकार देता है, हम एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात को अनदेखा कर देते हैं। इस अधिकार का क्या यह अर्थ लगाया जा सकता है कि ऐसे आचरण जो न्याय, समता और मूलभूत नैतिक मूल्यों के सार्वभौम मूल्यों के विरुद्ध हों, उन्हें अपनाया जा सकता है? यदि सामाजिक और लैंगिक न्याय के सिद्धांतों को समान रूप से सभी नागरिकों पर लागू किया जाता है तो यह इस्लामिक मूल्यों का विरोधी कैसे हो सकता है? इसलिए हमें इस संदेह को दूर करना चाहिए कि 'समान नागरिक संहिता' का अर्थ मुसलमानों पर कुछ हिंदू मूल्यों को थोपने जैसा कुछ है। इसके विपरीत इससे सभी धर्मों के मूलभूत मानवीय मूल्य नियमबद्ध हो जाएँगे। श्री के. एम. मुंशी ने संविधान सभा की चर्चा में भाग लेते हुए स्पष्ट रूप से कहा था कि -

"इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि ऐसा कानून बहुसंख्यकों की तानाशाही होगा। यदि आप यूरोप के देशों की ओर देखें जहाँ 'समान आचार संहिता' लागू है, वहाँ विश्व के विभिन्न भागों से लोग जाते हैं और प्रत्येक अल्पसंख्यक वर्ग को 'समान नागरिक संहिता' माननी होती है। यह अल्पसंख्यकों पर अत्याचार नहीं माना जाता। वास्तविक बात यह है कि क्या हम अपने - 'व्यक्तिगत कानूनों' को इस रूप में सुगठित और एकीकृत कर रहे हैं कि समय के साथ-साथ संपूर्ण देश की जीवनशैली एकीकृत और पंथनिरपेक्ष हो जाए। हम 'व्यक्तिगत कानूनों' का धर्म से विच्छेद करना चाहते हैं जिन्हें सामाजिक संबंध अथवा संबंधित पक्षों के विरासत या उत्तराधिकार के नियम कहा जाता है। इन सबका धर्म से क्या लेना-देना है, यह मेरी समझ में नहीं आता।"[7]

'पंथनिरपेक्षता' का यही स्वरूप है जिसे हमारे राष्ट्र-निर्माता स्थापित करना चाहते थे। यह एक ऐसे भारत की परिकल्पना है जो भूलभूत भारतीय मूल्यों में निबद्ध होकर सभी के अधिकारों की रक्षा करता है विशेष रूप से महिलाओं के अधिकारों की जो कि अपने अधिकारों की रक्षा में प्राय: अक्षम होती हैं। इस प्रकार की जीवनशैली में समता के

विवाह और उत्तराधिकार संबंधी कुछ विशिष्टताओं को छोड़कर अन्य सभी कानून समान रूप से सभी पर लागू होते हैं। हमारे यहाँ अनुबंधों, आपराधिक गतिविधियों, संपत्ति के हस्तांतरण, वस्तुओं के विक्रय तथा जीवन के अन्य विविध क्षेत्रों को प्रभावित करने वाले क्षेत्रों में तथा सामाजिक प्रक्रियाओं में काम आने वाले कानून हैं जो समान रूप से सभी पर लागू होते हैं। कल्पना कीजिए कि यदि सभी लोग देश में समान रूप से लागू होने वाले कानूनों को सहज रूप से स्वीकार कर उनसे अपना जीवन शासित करने लगें तो कैसा रहेगा

अधिकार को उच्च आदर दिया जाता है, जब कभी व्यक्तिगत मूल्यों पर विचार किया जाता है। मुंशी जी ने पंथनिरपेक्षता को सभी नागरिकों को सुगठित करने वाली शक्ति के रूप में देखा था। अनेक लोगों को लगता है कि इससे भारत की विविधता, जिस पर हमें गर्व है, वह आत्मीकरण और विस्मृतीकरण में खो जाएगी तथा 'समान नागरिक संहिता' का अर्थ है 'एक प्रकार की जीवनशैली सभी पर लादना'। परंतु हम ऐसी नियमावली की चर्चा कर रहे हैं जिसमें सभी नर-नारियों की समानता का अधिकार समाहित है। व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों के रहते हुए भी कोई भी देश इस बात की आज्ञा नहीं दे सकता कि उसके नागरिकों के साथ समाज में अथवा व्यवहार में धर्म अथवा जाति के आधार पर उनसे भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाए।[8]

भारत में अनेक कानून पंथनिरपेक्ष रूप से सभी नागरिकों पर लागू होते हैं और इनमें से अनेक कुछ लोगों के व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों और नियमों के अनुरूप नहीं हैं।

विवाह और उत्तराधिकार संबंधी कुछ विशिष्टताओं को छोड़कर अन्य सभी कानून समान रूप से सभी पर लागू होते हैं। हमारे यहाँ अनुबंधों, आपराधिक गतिविधियों, संपत्ति के हस्तांतरण, वस्तुओं के विक्रय तथा जीवन के अन्य विविध क्षेत्रों को प्रभावित करने वाले क्षेत्रों में तथा सामाजिक प्रक्रियाओं में काम आने वाले कानून हैं जो समान रूप से सभी पर लागू होते हैं। कल्पना कीजिए कि यदि सभी लोग देश में समान रूप से लागू होने वाले कानूनों को सहज रूप से स्वीकार कर उनसे अपना जीवन शासित करने लगें तो कैसा रहेगा। यदि हम समान नागरिक संहिता के अंतर्गत विवाह और उत्तराधिकार संबंधी व्यवहारों को भी पारस्परिक संबंधों और आदान-प्रदान का अंग बना लें तो क्या हो! इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना भी उचित होगा कि 'व्यक्तिगत कानून' की अवधारणा कुछ लोगों के तर्कानुसार, ब्रिटिश शासन की, हिंदुओं और मुसलमानों में फूट डालने की नीति का परिणाम है। साम्राज्यवादियों के हित में था कि धार्मिक कानून और हमारे जीवन की भिन्नताएँ सदा बनी रहें और कुछ सामान्य जीवन मूल्यों से उनका सामंजस्य न बन सके। भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हिंदू कोड बिल पारित हुआ जिसमें मुख्य रूप से हिंदू व्यक्तिगत कानूनों को नियमबद्ध किया गया जो कि बौद्ध, हिंदू, जैन और सिख आदि विविध पंथों पर लागू होते हैं। ईसाई, यहूदी और मुसलमानों को इसकी परिधि से बाहर रखा गया। यदि 'समान नागरिक संहिता', स्वीकृत होती है तो उसमें इन सभी धर्मों के व्यक्तिगत कानूनों का सामंजस्य हो जाएगा, जिसे सभी पर समान रूप से लागू किया जाएगा। न्यायालयों ने इन लोगों द्वारा पारिवारिक और उत्तराधिकार संबंधी मुकद्दमे न्यायालय के समक्ष लाने और व्यक्तिगत नियमों की विविधता के कारण उन पर निर्णय न कर पाने की विवशता पर रोष व्यक्त किया है।"[9]

'समान नागरिक संहिता' विषयक हाय-तौबा प्राय: (इस्लाम खतरे में है) के कोलाहल में बदल जाता है, जिससे सीधे -सादे मुसलमान इसकी चपेट में आ जाते हैं और समाज के कुछ अन्य वर्गों द्वारा 'दूसरेपन' की भावना से भर दिए जाते हैं।

इससे इस सुविचारित एवं पोषित धारणा को प्रकट रूप में दृढ़ता मिलती है कि सभी

मुसलमान चार-चार शादियाँ कर रहे हैं और अधिकाधिक बच्चे पैदा करने का आनंद लेते हैं जो कि व्यक्तिगत कानूनों के कारण ही होता है। यद्यपि इस्लाम में बहुविवाह स्वीकृत है परंतु यदि समान कानूनों के द्वारा इस पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है तो क्या इससे इस्लाम नष्ट हो जाएगा अथवा मुस्लिम समुदाय घटकर समाप्त हो जाएगा? अनेक देशों में जिनमें बहुतायत इस्लामिक राष्ट्र भी हैं, मुसलमान समान कानूनों के अधीन सुखपूर्वक रहते हैं। क्या इससे वे कम मुसलमान हो जाते हैं? तब क्या कारण है कि कुछ लोग ऐसे धार्मिक कानूनों से चिपके रहना चाहते हैं जो इस्लामिक मर्यादाओं के भले ही अनुरूप हो परंतु प्रजातांत्रिक समाज उन्हें स्वीकृति नहीं देता। क्योंकि वहाँ सामूहिक विवेक के आधार पर निर्णय लिया जाता है। लोगों का जैसे-जैसे शैक्षिक और आर्थिक स्तर ऊपर उठ रहा है वैसे-वैसे छोटा परिवार और एक विवाह हिंदुओं और मुसलमानों में सामान्य होता जा रहा है। यदि हम अपने चारों ओर नजर दौडाएँ कितने शिक्षित और आर्थिक रूप से संपन्न डॉक्टर, वकील, तथा उद्यमी मुस्लिम परिवारों में एकाधिक पत्नियाँ और एक या दो से अधिक बच्चे पाएँगे? जनसांख्यिकी इस बात को सिद्ध करती है कि गत दशकों में मुसलमानों में जनसंख्या वृद्धि दर कम होती गई है।"[10] समान नागरिक संहिता का पुरजोर विरोध करने और इसे धार्मिक हस्तक्षेप मानने की बात कहकर समाज का एक वर्ग इस धारणा को पुष्ट करता है कि सभी मुसलमान बहुविवाह करते हैं जो कि देश में जनसंख्या विस्फोकट का मुख्य कारण है।

आइए, तर्क के लिए हम कुछ और कानूनों की बात करें जो समान रूप से सभी पर इस देश में लागू होते हैं। सभी बैंक खातों और बीमा पालिसियों का आधार ब्याज है जो कि इस्लाम में हराम (प्रतिबंधित) है। परंतु हम इस प्रणाली के विरूद्ध उग्र प्रतिरोध अथवा विरोध का भाव नहीं पाते। कितने मुसलमान अथवा इस समुदाय के नेता हैं जो अपनी जमा पूँजी पर मिलने वाले ब्याज को ठुकराते अथवा उससे बचते हैं। इसे लागू करने की स्थितियों में अनेक इस्लामिक सिद्धांतों को या तो दरकिनार कर दिया जाता है या फिर उसकी उपेक्षा की जाती है। पूरे विश्वं में मुसलमानों ने आवश्यकतानुसार व्याप्त परिस्थितियों में, स्थानीय कानूनों के अनुसार अपने को ढाला है।

प्रो. शर्मन ए. जैक्स ने, जो कि दक्षिण कैलिफोर्निया में ''किंग फैजल चेयर ऑफ इस्लामिक थॉट एंड कल्चर' पीठ तथा 'धर्म और अमरीकी अध्ययन तथा जातीयता' के आचार्य हैं, एक रोचक तर्क दिया है जो कि 'समान नागरिक संहिता' पर भारत में चलने वाली चर्चा पर शायद कुछ प्रकाश डाल सकता है। उन्होंने गंभीरतापूर्वक इस बात का परीक्षण किया है कि दक्षिण अमरीका में रहने वाले मुसलमान अपने समाज में प्रचलित सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य में मुस्लिम कानूनों का सामंजस्य कैसे बिठाते हैं। उनका तर्क है कि मुस्लिम कानूनों को देश और काल से ऊपर उसी मात्रा में स्वीकार किया जाता है जिस मात्रा में मुसलमान स्थानीय मुस्लिम और गैर मुस्लिम रीति-रिवाजों की विभिन्नता को वैचारिक और वास्तविक अधिकार क्षेत्र में स्वीकार करते हैं।[11] कुछ मुद्दे बहुधर्मी सामाजिक-राजनीतिक और पंथनिरपेक्ष प्रणाली के देशों में शरिया के कठोर दायरे से बाहर माने जाते हैं। इसलिए इस्लाम उन मुद्दों को मुस्लिम कानूनों पर निर्भर हुए बिना तथा इस्लाम को चोट पहुँचाए बिना, मुसलमानों को अपने जीवन के विविध क्षेत्रों में अपनाने की स्वीकृति देने में सक्षम है। संभवत: ब्याज पर आधारित बैंकिंग प्रणाली, विश्व भर में मुस्लिम कानूनों से सामंजस्य का प्रमाण है। अंतत: इस्लाम कुरान के अनुसार उन पर कोई असहनीय कार्यवाही नहीं करता जैसी कि कुरान में कही गई है, 'उसने तुम्हारा चुनाव किया है और तुम पर कोई धार्मिक पाबंदियाँ नहीं लगाई है। (सूरा अल हज्ज, आयत :78) एक अन्य स्थान पर पुन: कहा गया है. "ईश्वर तुम्हे सभी सुविधाएँ देना चाहता है। वह तुम्हें कठिनाई में नहीं डालना चाहता।" (सुरा अल-बकरा, आयत : 185)

जिस तथ्य को अनेक मुसलमान प्राय: भुला देते हैं, वह यह है कि धर्म में कोई प्रतिबंध नहीं होता। (सुरा अल-बकर, पद : 256)। इस प्रकार सार्वभौम कल्याण का भाव ईश्वरीय है और इसके अनुसार सभी लोग, जिनमें मुसलमान भी शामिल हैं, उन्हें न्यायपूर्ण और उचित जीवनशैली अपनानी चाहिए और उस परम सत्तास में आस्था रखनी चाहिए जो हमारे कर्म का फैसला करता है। पवित्र कुरान में स्पष्ट घोषणा है, यदि तुम न्याय करते हो तो सम दृष्टि से न्याय करो। ईश्वर समतापूर्वक न्याय करने वालों से प्यार करता है। (सूरा अल मैदा, आयत 5)।

कोई भी व्यक्ति धर्म में अनेक बातों पर बल दे सकता है। फिर भी इस्लाम अपने विवेक से कुछ स्थितियों में प्रतिबंधित बातों की भी स्वीकृति देता है। परंतु जो कोई भी विवश होकर (आवश्यकतावश), अर्थात् बिना उसकी इच्छा किए हुए और बिना उसका अतिक्रमण किए ऐसा कार्य करता है, उसे कोई पाप नहीं लगता। ईश्वर क्षमाशील और दयावान है' (सूरा अल-बकरा, आयत-173)।

इसलिए समान नागरिक संहिता स्वीकार करने को लेकर की जाने वाली बहस निरर्थक है। विवाह, तलाक उत्तराधिकार, संतान गोद लेने और गुजारा भत्ता देने के

इसलिए समान नागरिक संहिता स्वीकार करने को लेकर की जाने वाली बहस निरर्थक है। विवाह, तलाक उत्तराधिकार, संतान गोद लेने और गुजारा भत्ता देने के संदर्भ में हमें जो न्यायसंगत और समतापरक दिखता है, उसे आसानी से अपना सकते हैं। इस्लाम में व्यक्ति का कल्याण, सामूहिक हित के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा है। मुसलमान जिन समाजों में रहते हैं, उनके कल्याण का दायित्व भी उन पर है। उन संकल्पों को सम्मान देना और उनका पालन करना, जिनके माध्यम से वे समाज के अन्य वर्गों से जुड़ते हैं तथा साथ ही जिस देश में रहते हैं वहाँ इस्लाम का बेहतर स्वरूप प्रस्तुत करना भी उनका दायित्व है

संदर्भ में हमें जो न्यायसंगत और समतापरक दिखता है, उसे आसानी से अपना सकते हैं। इस्लाम में व्यक्ति का कल्याण, सामूहिक हित के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा है। मुसलमान जिन समाजों में रहते हैं, उनके कल्याण का दायित्व भी उन पर है। उन संकल्पों को सम्मान देना और उनका पालन करना, जिनके माध्यम से वे समाज के अन्य वर्गों से जुड़ते हैं तथा साथ ही जिस देश में रहते हैं वहाँ इस्लाम का बेहतर स्वरूप प्रस्तुत करना भी उनका दायित्व है।"[12] सबका कल्याण अथवा जो संकल्प हमें बहुधर्मी बहुजातीय और बहु सांस्कृतिक राष्ट्र में एक बनाते हैं, निश्चय ही संवैधानिक हैं। क्योंकि संविधान, राज्य को 'समान नागरिक संहिता' अपनाने का निर्देश देता है इसलिए देश के संभावित नागरिक होने के कारण मुसलमानों को इस संकल्प को मानना चाहिए।

अज्ञानतावश अनेक लोग 'समान नागरिक संहिता' को मुसलमान विरोधी घोषित करते हैं और मानते हैं कि यह मुसलमानों द्वारा, व्यक्तिगत कानूनों के अंतर्गत प्राप्त कुछ सुविधाओं और अधिकारों को समाप्त करने का माध्यम है, जबकि अब तक अनेक कानून पारित हुए हैं जो कि हिंदू महिलाओं के लिए बहुत अधिक लाभदायक सिद्ध हुए हैं। डॉ. बी. आर. अंबेडकर स्वतंत्र भारत में समान नागरिक संहिता लागू करने के पक्ष में थे। उनके अनुसार इससे हिंदू समाज का सुधार होगा और मुस्लिम महिलाओं को भी सुरक्षा मिलेगी। 1956 में चार अलग-अलग अधिनियम पारित किए गए।[13] परंतु मुसलमानों पर ये कानून लागू नहीं किए गए क्योंकि यह केवल हिंदुओं के लिए बने थे। इसलिए यह स्वाभाविक है कि समान नागरिक संहिता से मुस्लिम व्यक्तिगत कानून अधिक प्रभावित होंगे। परंतु इसे बहुसंख्यसक हिंदुओं के कानूनों को मुसलमानों पर थोपना नहीं माना जा सकता। 'समान नागरिक संहिता' का इरादा सभी धर्मों के श्रेष्ठ सिद्धांतों के समावेश का है। न्यायधीश बी. आर. कृष्णा आयंगर के अनुसार, "जहाँ तक मेरा प्रश्न है मुझे लगता है कि प्राचीन मुस्लिम कानूनों में प्रगतिशील अभिप्राय वाले अनेक कानून भारतीय समान नागरिक संहिता को सुशोभित करेंगे।[14] समान नागरिक संहिता का अर्थ यह नहीं है कि हिंदू कानून संहिता अन्य वर्गों पर थोपी जाएगी बल्कि हिंदू संयुक्त परिवार जैसे अनेक कानूनों को समाप्त करना पड़ेगा अथवा वही अधिकार अन्य समुदायों को भी देने पड़ेंगे।[15]

इस प्रकार समान नागरिक संहिता विभिन्न धार्मिक समुदायों जैसे हिंदू, ईसाई, पारसी और मुस्लिम आदि के धार्मिक कानूनों का स्थानन लेगी और इनके स्थासन पर एक समान कानून संहिता बनेगी। समान कानून में कुछ पंथनिरपेक्ष मुद्दों जैसे - एकल विवाह, तलाकशुदा महिलाओं का गुजारा भत्ता तथा लड़के और लड़की को उत्तदराधिकार के मामले में समान अधिकार संबंधी कानूनों को अपने दायरे में लेगा। निश्चित रूप से समान नागरिक संहिता मुस्लिम धर्म सहित सभी धार्मिक कानूनों के कुछ प्रावधानों में परिवर्तन करेगी। इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि सभी नर-नारियों के न्यायपूर्ण एवं समतामूलक अधिकारों पर जोर दिया जाए, न कि उसे मुस्लिम विरोधी कार्यक्रम करार दिया जाए। प्रचार माध्यमों में लगातार सनसनी पैदा करने वाली चर्चा के स्थान पर, सामाजिक और नागरिक समूहों के अंतर्गत खुली, व्याचपक चर्चा की जानी चाहिए विशेषकर महिलाओं के बीच में, इससे समान नागरिक संहिता को प्रोत्साहन मिलेगा। इस मुद्दे के केंद्र में हमारी महिलाओं के अधिकार रहने चाहिए। 'समान नागरिक संहिता' को लेकर की जाने वाली किसी भी विखंडनकारी राजनीति से अंततः भारतीय संविधान के उदारतावादी लक्ष्यों को ही चोट पहुँचेगी।

संदर्भ

1. मो. अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम एवं अन्य, 23 अप्रैल, 1985; 1985 एआईआर 945, 1985 एससीआर (3) 844
2. मिस जॉर्डन दिएंग्दे बनाम एस.एस. चोपड़ा। 10 मई, 1985 को निर्णीत, 1985 एआईआर 935, 1985 एससीआर सप्ली.(1)704
3. संयोगवश, भारत के 21वें विधि आयोग ने 31 अगस्त 2018 को यद्यपि अपने एक परामर्श के रूप में कहा था कि एक समान आचार संहिता "इस स्तर पर न तो आवश्यक है और न ही वांछनीय", लेकिन इसने परिवार संबंधी विभिन्न कानूनों में लैंगिक न्याय एवं समानता के हित में व्यापक परिवर्तन सुझाए थे। अब भारत सरकार ने समान नागरिक संहिता का मामला फिर से 22वें विधि आयोग को उनकी अनुशंसा के लिए संदर्भित कर दिया है। (4 फरवरी 2022 को लोकसभा में विधिमंत्री का वक्तव्य)
4. श्रीमती सरला मुद्गल बनाम भारत संघ एवं अन्य, 10 मई 1995 को निर्णीत; 1995 एआईआर 1531, 1995 एससीसी (3) 635
5. *कंस्टीट्युएंट असेंबली डिबेट्स (प्रोसीडिंग्स)*, खंड सातवाँ, मंगलवार 23 नवंबर 1948
6. वही
7. वही
8. शांभवी (1017), *यूनिफॉर्म सिविल कोड: द नेसेसिटी ऐंड द ऐब्सर्डिटी*, आईएलआई लॉ रिव्यू, खंड 1, पृ.12-29
9. जॉन वल्लामॉटम बनाम भारत संघ 2003 (5) स्केल 384
10. *'फर्टिलिटी रेट्स डेक्लाइन एक्रॉस इंडिया, शार्पेस्ट ड्रॉप्स रेकॉर्डेड एमंग मुस्लिम्स'*, द हिंदू, (सितंबर 23, 2021); https://bit.ly/3Oussr6
11. जैक्सन, एस.ए. (2015), *इस्लामिक लॉ, मुस्लिम्स ऐंड अमेरिकन पॉलिटिक्स, इस्लामिक लॉ ऐंड सोसायटी*, 22(3), 253-291
12. ए.एल.असाफ, टी.ओ.ए. (2019), द रूल: *पॉसिबल ऐक्शंस आर नॉट इनवैलिडेटेड बाई ऐक्शंस दैट आर डिफिकल्ट टु परफॉर्म ऐंड इट्स इंपैक्ट ऑन "द एडहियरेंस ऑफ मुस्लिम्स टु द प्रेस्क्राइब्ड रूल्स ऑफ इस्लाम इन नॉन-मुस्लिम् लैंड्स इन लाइट ऑफ द वेव्ज ऑफ हॉस्टिलिटी टु इस्लाम"*, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ लिबरल आर्ट्स ऐंड सोशल साइंस, 7(11), 24-26।
13. *हिंदू मैरेज एक्ट, सक्सेशन एक्ट, माइनॉरिटी ऐंड गार्जियनशिप एक्ट ऐंड एडॉप्शंस ऐंड मेंटेनेंस एक्ट*
14. अय्यर, वी.के. (1987), द *मुस्लिम विमेन (प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स ऑन डायवोर्स) एक्ट*, 1986, ईस्टर्न बुक कंपनी
15. शारदा, आर. (2017), *टू सेक्यूलरिज्म डिमांड्स अ यूनिफॉर्म सिविल कोड*, टाइम्स ऑफ इंडिया (सित.11, 2007)

सुबुही खान

समान नागरिक संहिता लैंगिक न्याय तथा समाज कल्याण के लिए वरदान

समान नागरिक संहिता का मुद्दा वस्तुतः समान अधिकार और विधि के समक्ष समान स्थिति से संबद्ध है। इसकी आवश्यकता पर यथार्थ जीवन से उदाहरणों सहित एक आलोचनात्मक चिंतन

समान नागरिक संहिता का अर्थ है विवाह, तलाक, विरासत, उत्तराधिकार, गोद लेने आदि के मामलों में भारत के सभी नागरिकों के लिए एक कानून। वर्तमान में अलग-अलग धार्मिक समुदायों में अलग-अलग व्यक्तिगत कानून होने के विपरीत यह कानून सभी धार्मिक समुदायों पर समान रूप से लागू होगा।

समान नागरिक संहिता का उद्गम

ब्रिटिश सरकार ने 1835 में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें कहा गया था कि अपराधों, साक्ष्यों आदि के संबंध में भारतीय कानून का एक समान संहिताकरण होना समय की आवश्यकता है। फिर भी, उन्होंने सिफारिश की कि हिंदुओं और मुसलमानों के व्यक्तिगत कानूनों को कानून के ऐसे संहिताकरण से बाहर रखा जाना चाहिए। बाद में 1941 में उसी ब्रिटिश सरकार ने हिंदू कानून को संहिताबद्ध करने के लिए बी. एन. राव समिति का गठन किया जिसमें उन्होंने समान हिंदू कानूनों की आवश्यकता पर विचार किया। समिति ने एक संहिताबद्ध हिंदू कानून की यह कहते हुए सिफारिश की कि यह महिलाओं को समान अधिकार देगा, और साथ ही हिंदुओं के लिए विवाह और उत्तराधिकार की नागरिक संहिता की सिफारिश भी की।

हिंदू कोड बिल

हमारे संविधान को अंगीकार करने के बाद 1951 में राव समिति का मसौदा चर्चा के लिए आया। किंतु, यह विधेयक समाप्त (लैप्स) हो गया और 1952 में फिर से प्रस्तुत किया गया। 1955 में, विवाह और तलाक से संबंधित कानूनों में संशोधन और संहिताकरण के लिए, इस विधेयक को हिंदू विवाह अधिनियम के रूप में अपनाया गया था। 1956 में हिंदुओं, बौद्धों, जैनियों और सिखों के बीच निर्वसीयत या अनिच्छुक उत्तराधिकार से संबंधित कानूनों में संशोधन और संहिताकरण के लिए विधेयक को हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम के रूप में अपनाया गया था। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम ने हिंदू व्यक्तिगत कानूनों में सुधार किया और महिलाओं को संपत्ति के अधिक अधिकार और स्वामित्व दिए। इसने महिलाओं को उनके पिता की संपदा में संपत्ति का अधिकार दिया। 1956 के अधिनियम के तहत निर्वसीयत मर जाने वाले पुरुष के लिए उत्तराधिकार के सामान्य नियम यह थे कि कक्षा I के उत्तराधिकारी अन्य वर्गों के उत्तराधिकारियों की तुलना में वरीयता में उत्तराधिकार पाते हैं। वर्ष 2005 में अधिनियम में एक संशोधन ने अधिक वंशज जोड़ते हुए महिलाओं को वर्ग I के स्तर तक उठा दिया । बेटी को उतना ही हिस्सा आवंटित किया गया जितना एक बेटे को आवंटित किया गया है। हिंदू अवयस्कता और संरक्षकता अधिनियम 1956 ने अवयस्कता और संरक्षकता से संबंधित हिंदुओं के कानूनों को संहिताबद्ध किया है। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि यदि हिंदू महिलाओं को देश के कानून द्वारा समान अधिकार दिया गया है तो ऐसा क्यों है कि अन्य धर्मों की महिलाओं को इस न्याय और समानता से वंचित किया जा रहा है? हम एक धर्मनिरपेक्ष देश हैं और भारत के किसी भी नागरिक को केवल उनके धर्म के आधार पर उसके प्राकृतिक, मानवीय और कानूनी अधिकारों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। यदि ऐसा

होता है तो यह संविधान के अनुच्छेद 15 का स्पष्ट उल्लंघन है जो कहता है कि केवल धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। मैं एक मुस्लिम महिला वकील और कार्यकर्ता के रूप में यहाँ कुछ उदाहरणों के बारे में बात करना चाहती हूं।

उदाहरण 1: शरिया कानून के अनुसार, एक मुस्लिम व्यक्ति को एक ही समय में चार पत्नियाँ रखने की अनुमति है। हालाँकि भारतीय दंड संहिता की धारा 494 के तहत भारत में द्विविवाह निषिद्ध है, और एक दंडनीय अपराध है, फिर भी मुस्लिम पुरुषों को अपने व्यक्तिगत कानून होने का लाभ मिलता है। वे एक महिला को शारीरिक, मानसिक, यौन और मनोवैज्ञानिक रूप से प्रताड़ित करते हैं और शरिया कानून के पीछे छिपकर भाग जाते हैं। भारत में हमारे पास घरेलू हिंसा अधिनियम 2005 है जो 'घरेलू हिंसा' की एक व्यापक परिभाषा प्रदान करता है जिसमें न केवल शारीरिक हिंसा, बल्कि हिंसा के अन्य रूप जैसे भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक शोषण भी शामिल है, लेकिन दुख की बात है कि मुस्लिम महिलाओं को उनके अपने देश के कानून का संरक्षण नहीं मिलता है।

उदाहरण 2: यदि एक मुस्लिम पुरुष और एक मुस्लिम महिला के वैवाहिक संबंधों में खटास आ जाती है तो पुरुष मौजूदा पत्नी को तलाक दिए बिना दूसरी महिला से विवाह कर सकता है, लेकिन पत्नी किसी अन्य पुरुष से विवाह नहीं कर सकती क्योंकि उसे फिर से शादी करने के लिए तलाक की आवश्यकता होगी जो उसे कभी नहीं मिलता, और मामले के बंद होने के लिए परेशान रहती है ताकि वह अपने जीवन में आगे बढ़ सके। कई मुस्लिम पुरुष अपनी पत्नियों को पीड़ादायक विवाहों में लटकाए रखने के लिए इसका एक उपकरण के रूप में प्रयोग करते हैं, और उन्हें व्यक्ति के रूप में न मानकर एक वस्तु के रूप में मानते हैं, क्योंकि उनका अहंकार नहीं चाहता कि उनकी पत्नियों को औपचारिक तलाक मिले और किसी अन्य व्यक्ति से शादी हो।

उदाहरण 3: यदि एक मुस्लिम पुरुष और एक मुस्लिम महिला के बीच वैवाहिक संबंधों में खटास आ जाती है और दोनों को शरिया कानून के माध्यम से तलाक मिल जाता है, और बाद में वे दोनों किसी अन्य व्यक्ति से शादी करना चाहते हैं जो मुस्लिम नहीं है तो यह उनके लिए एक समस्या बन जाती है क्योंकि भारत में अंतरधार्मिक विवाह विशेष विवाह अधिनियम के तहत अनुष्ठापित किए जाते हैं, और विशेष विवाह अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार यदि कोई पक्ष तलाकशुदा है तो उन्हें सक्षम न्यायालय द्वारा पारित औपचारिक तलाक डिक्री/आदेश की एक सत्यापित प्रति प्रदान करने की आवश्यकता है।

उदाहरण 4: शरिया कानून के अनुसार, एक लड़की की विवाह योग्य आयु है, 'एक बार जब वह यौवन प्राप्त कर लेती है', जिसे 15 वर्ष माना जाता है। किंतु कई मामलों में एक लड़की 12 वर्ष की आयु में ही यौवन प्राप्त कर लेती है, और इस तरह शरिया कानून के अनुसार एक 12 वर्ष या 15 वर्ष की लड़की भी विवाह योग्य है। यह बाल विवाह निषेध अधिनियम का परिहास करता है जिसके अनुसार लड़कियों की न्यूनतम वैवाहिक आयु 18 वर्ष और लड़कों के लिए 21 वर्ष है। अब भारत सरकार ने महिलाओं की शादी की कानूनी उम्र को 18 साल से बढ़ाकर 21 साल करने का फैसला किया है जो लड़कियों को सशक्त बनाएगी और उनके करियर के निर्माण में मदद करेगी, लेकिन दुर्भाग्य से कानून बनने के बाद भी इससे युवा मुस्लिम लड़कियों को कोई फायदा नहीं होगा क्योंकि वे अभी भी हैं शरीयत कानून

साभार: https://www.islamicity.org/740

की गिरफ्त में रहेंगी। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दशकों से बाल विवाह पर रोक लगाने वाले कानून के बावजूद भारत में लगभग 23 प्रतिशत विवाह बाल विवाह हैं। यद्यपि ये सभी मुस्लिमों के बीच नहीं हैं, लेकिन इनमें से एक बड़ा प्रतिशत मुस्लिम समुदाय में उपरोक्त कारणों से होगा। भारत में विभिन्न व्यक्तिगत कानून हैं जो विशेष रूप से विभिन्न धर्मों को नियंत्रित करते हैं। 1955 का हिंदू विवाह अधिनियम विवाह की न्यूनतम कानूनी आयु दूल्हे के लिए 21 वर्ष और दुल्हन के लिए 18 वर्ष निर्दिष्ट करता है। इसी तरह 1872 का भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम दुल्हन के लिए 18 वर्ष और दूल्हे के लिए 21 वर्ष निर्धारित करता है। 1969 के विदेशी विवाह अधिनियम और 1954 के विशेष विवाह अधिनियम में भी विवाह की न्यूनतम कानूनी आयु समान है। दूसरी ओर, मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत एप्लीकेशन एक्ट) 1937 यह प्रावधान करता है कि एक लड़का और एक लड़की जो यौवन प्राप्त कर चुके हैं, एक दूसरे से शादी कर सकते हैं।

उदाहरण 5: सौभाग्य से, तलाक-ए-बिद्दत (तत्काल ट्रिपल तलाक) को वर्तमान नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाली एनडीए सरकार द्वारा दंडनीय अपराध बना दिया गया है। किंतु तलाक-ए-हसन और तलाक -ए-अहसान, जो तलाक के न्यायिक प्रक्रिया से इतर के ऐसे रूप हैं जिनका प्रयोग केवल पुरुष ही कर सकते हैं, अभी भी प्रचलित हैं। चाहे कोई महिला सहमत हो या वह असहमत हो, तलाक का एक तरफा उच्चारण अभी भी शरिया कानून के अनुसार मान्य है जो पूरी तरह से सामाजिक और लैंगिक न्याय के विरुद्ध है और शादी के बाद भी एक महिला को कोई सुरक्षा या स्थिरता नहीं प्राप्त होने देता है। दूसरी ओर यदि कोई मुस्लिम महिला तलाक लेना चाहती है तो उसे शरिया अदालतों से एक 'खुला' मांगना होगा जो पितृसत्तात्मक चरमपंथी पुरुषों के चंगुल में है और वे एक महिला के लिए 'खुला' लेना बेहद मुश्किल बना देते हैं जिससे कि वह अपने जीवन के साथ आगे न बढ़ें।

उदाहरण 6: शरिया कानून के अनुसार महिला अपने बच्चे की नैसर्गिक अभिभावक नहीं है। पिता या उसके निष्पादक या उसकी अनुपस्थिति में, दादा नाबालिग के प्राकृतिक अभिभावक और प्रभारी हैं। मैंने ऐसे कई मामलों को निपटाया है जहाँ पति की मृत्यु की स्थिति में पत्नी को उसके अपने बच्चे या बच्चों की अभिरक्षा दिए बिना घर से निकाल दिया गया था।

उदाहरण 7: विवाह की एक पद्धति है जिसे मिसियार विवाह कहा जाता है और जिसका अर्थ है यात्री विवाह। 'मिसियार' शब्द का अर्थ 'रुकना' या 'थोड़े समय के लिए रुकना' हो सकता है। इस व्यवस्था में विवाह तो होता है लेकिन पत्नी के पास निवास या भरण-पोषण या स्थिरता आदि जैसे कोई अधिकार नहीं होते। इस विवाह को जनता से गुप्त रखा जाता है और महिला से अपने सभी अधिकारों को छोड़ने की अपेक्षा की जाती है। इस विडंबना में यह तथ्य और अभिवृद्धि करता है कि किसी भी उम्र का मुस्लिम पुरुष 12-14 साल की मुस्लिम लड़की से 'मिसयार विवाह' के नाम पर शादी कर सकता है और शादी की आड़ में उसका यौन शोषण कर सकता है। यह बाल यौन अपराध संरक्षण अधिनियम (POCSO अधिनियम) का स्पष्ट उल्लंघन है जिसे बच्चों को यौन अपराधों से बचाने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया था। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि नागरिक व्यवहार की आड़ में हमारे देश में कई ऐसे अपराध हो रहे हैं जो बिना पकड़े या दंडित किए रह जाते हैं।

उदाहरण 8: मुस्लिम कानून के अनुसार मुसलमानों के लिए गोद लेने की अनुमति नहीं है। किंतु सर्वोच्च न्यायालय ने एक ऐतिहासिक फैसले में मुसलमानों को भी गोद लेने का अधिकार दे दिया। शबनम हाशमी बनाम भारत संघ, (2014) 4 एससीसी 1 शीर्षक वाले मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने घोषित किया कि किशोर न्याय अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा बच्चे को गोद लेने का अधिकार सभी व्यक्तिगत कानूनों और धार्मिक संहिताओं पर लागू होगा। देश में। किशोर न्याय अधिनियम, 2002 धारा 2एए में दत्तक ग्रहण को परिभाषित करता है। यह दत्तक माता-पिता और बच्चे को वह सभी अधिकार, विशेषाधिकार और जिम्मेदारियाँ प्रदान करता है जो एक सामान्य माता-पिता और बच्चे के संबंधों से जुड़े होते हैं। मुख्य न्यायाधीश पी. सदाशिवम और न्यायमूर्ति रंजन गोगोई और न्यायमूर्ति शिव कीर्ति सिंह की तीन न्यायाधीशों की पीठ ने यद्यपि यह कहा कि व्यक्तिगत कानून किसी भी व्यक्ति के ऊपर तब तक लागू होना जारी रहेगा जब तक वह एक समान नागरिक संहिता के स्वप्न के साकार होने तक ऐसा विकल्प चुनता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि व्यक्तिगत कानूनों के संदर्भ में कानूनी बहुलवाद हमारी न्यायपालिका पर बहुत अधिक बोझ डालता है जिसके परिणामस्वरूप कई अदालतों ने बार-बार राज्य को पूरे देश में एक समान नागरिक संहिता लागू करने के लिए कहा है।

अनुच्छेद 25 (धर्म के अधिकार) की समीक्षा और समझने का समय

भारत का संविधान अपने नागरिकों को मूल अधिकारों अर्थात भाग III के तहत अपने धर्म का स्वतंत्र रूप से अभ्यास करने, मानने और प्रचार करने की गारंटी देता है। किंतु हम यहाँ दो महत्वपूर्ण बातें भूल जाते हैं। सबसे पहले, यह मौलिक अधिकार सम्पूर्ण नहीं है। यह कुछ मर्यादाओं जैसे सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता, शालीनता आदि के अधीन है। उदाहरण के लिए, हमें नमाज अदा करने का अधिकार है, लेकिन सड़कों को अवरुद्ध करके और सार्वजनिक व्यवस्था को भंग करके नहीं। हमें अपने धर्म को मानने, व्याख्या करने और प्रचार करने का अधिकार है लेकिन हमें ऐसा कुछ भी करने का अधिकार नहीं है जो शालीनता और नैतिकता के विरुद्ध हो। हमें धार्मिक प्रथाओं की आड़ में महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार करने और उनके विरुद्ध अपराध करने का अधिकार नहीं है।

इसके अलावा भारत में ईश्वर की आराधना करने और विभिन्न धर्मों का पालन करने में मनुष्य के हर विचार का सम्मान किया गया है, लेकिन जब धर्म के नाम पर कदाचार राज्य के लोकतांत्रिक मूल्यों के आड़े आता है या धार्मिक प्रथाओं की आड़ में किए जा रहे अपराध होते हैं तो इसका देश के कानून द्वारा विनियमन अनिवार्य हो जाता है। लोकतंत्र तब समृद्ध होता है जब धर्म पूरी तरह से व्यक्तिगत और निजी हो जाता है और जब यह केवल हमारे अपने जीवन

और स्वतंत्रता को प्रभावित करता है और यह स्वयं कर्ता तक ही सीमित होता है। लेकिन जब यह दूसरों को प्रभावित करना शुरू कर देता है, उनके व्यक्तित्व और संपत्ति का उल्लंघन करता है, उनके प्राकृतिक, मानवीय और कानूनी अधिकारों का उल्लंघन करता है, तब यह एक कदाचार और अपराध बन जाता है और तब इससे देश के कानून के तहत निपटने की जरूरत पड़ती है। हम एक लोकतंत्र केवल इसलिए नहीं हैं कि हमारे राष्ट्र के प्रधानमंत्री को लोगों द्वारा चुना जाता है, बल्कि इसलिए भी हैं कि जब हमारे व्यवहार और कार्य एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तो हम एक समान कानून का सम्मान और पालन करते हैं। एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र में लोगों को अपने धर्म को मानने, व्याख्या करने और प्रचार करने का अधिकार है, लेकिन राज्य के पास कानूनी एकरूपता को उद्घोषित करने और लागू करने की शक्ति और वैधता है। इसके अलावा, यदि कोई धार्मिक कदाचार देश के कानून या भारत के संविधान का उल्लंघन या विरोध करता है तो देश का कानून प्रबलता के साथ प्रकट होता है।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न? यद्यपि चर्चा नागरिक कानूनों के बारे में है तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्तिगत कानूनों की आड़ में हमारे देश के आपराधिक कानूनों का उल्लंघन करने वाले कई अपराध किए जा रहे हैं, उदाहरण के लिए, भारतीय दंड संहिता की धारा 494 (द्विविवाह के लिए दंड जो 7 साल तक का हो सकता है), POSCO अधिनियम, (एक अधिनियम जो बच्चों को यौन अपराधों से बचाने के लिए अधिनियमित किया गया था), घरेलू हिंसा अधिनियम, और कई अन्य अधिनियम और प्रावधान। क्या हम एक सभ्य समाज में ऐसा होने दे सकते हैं? मुस्लिम महिलाओं और नाबालिग लड़कियों को शारीरिक, भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक, शाब्दिक और आर्थिक रूप से प्रताड़ित किया जा रहा है और उन्हें धार्मिक कानूनों का हवाला देकर चुप रहने को मजबूर किया जाता है। हमें, एक राष्ट्र के रूप में, इस तरह के अपराधों से अपनी लड़कियों की रक्षा करने में विफल नहीं होना चाहिए। मैंने, एक वकील के रूप में, कई महिलाओं को रास्ता तलाशते देखा है, लेकिन दुर्भाग्य से उनके पास कोई रास्ता नहीं है। कई मुस्लिम महिलाएँ 'स्टॉकहोम सिंड्रोम' से पीड़ित हैं क्योंकि उन्हें अपने अपमानजनक जीवन से बाहर निकलने के लिए कोई सांत्वना या रास्ता नहीं मिल रहा है। इन आवाजहीन और कमजोर महिलाओं के लिए कुछ करना हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है।

एक अधूरा कार्य : इसलिए यहाँ यह ध्यान रखना उचित रहेगा कि समान नागरिक संहिता न तो राजनीतिक और न ही धार्मिक मुद्दा है, बल्कि सामाजिक और लैंगिक न्याय के लिए बहुत ही प्रतिष्ठित विषय है। फिर भी, हमारे संविधान में एक स्पष्ट निर्देश होने के बावजूद अभी भी दशकों से लंबित है। यहाँ यह भी ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि अनुच्छेद 44 को गैर-न्यायसंगत बनाया गया है जिसका अर्थ है कि अदालतें इस मामले में निर्णय नहीं ले सकती हैं, और इसलिए राज्य के लिए यह पहल करना और भी महत्वपूर्ण बनाता है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय सहित कई न्यायालयों ने बार-बार दोहराया है कि राज्य को हितधारकों के परामर्श से पूरे देश में समान नागरिक संहिता लागू करने की पहल करनी चाहिए।

निम्नलिखित कारणों से समान नागरिक संहिता समय की माँग है:

- सामाजिक और लैंगिक न्याय के सार्वभौमिक सिद्धांतों को भारत के सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू करने के लिए।
- असैनिक (सिविल)/व्यक्तिगत मामलों की आड़ में अपराधों से बचने के लिए।
- निर्बलों की रक्षा के लिए।
- विवाह की कानूनी आयु में समानता प्राप्त करने के लिए।
- विवाह की संस्था में विश्वसनीयता, भरोसा, स्थिरता और सम्मान लाने के लिए।
- न्यायपालिका के बोझ को हल्का करने के लिए जो कई व्यक्तिगत कानूनों के कारण उत्पन्न होने वाले मुकदमों के कारण कई गुना बढ़ गया है।
- कदाचार में सुधार करने और धर्म के नाम पर होने वाले अपराधों से बचने के लिए।
- सभी व्यक्तिगत कानूनों में सामंजस्य स्थापित करने और सत्य, समानता और न्याय के सिद्धांतों का पालन करते हुए एक न्यायसंगत और समतामूलक नागरिक संहिता बनाने के लिए।
- हमारे संविधान के लक्ष्यों और उद्देश्यों को पूरा करने के लिए, जो सभी नागरिकों को न्याय, स्वतंत्रता, समानता सुरक्षित करने, और राष्ट्र की एकता और अखंडता बनाए रखने के लिए बंधुत्व को बढ़ावा देने हेतु कृतसंकल्प है।

निष्कर्ष

यद्यपि भारत एक पंथनिरपेक्ष देश है, और सभी नागरिकों के लिए, उनके धर्मों के बावजूद, एक समान नागरिक और आपराधिक कानून होना चाहिए, तथापि सच्चाई यह है कि जब भी नागरिक कानूनों की बात आती है तो हमारा बहुलवादी दृष्टिकोण प्रबल हो जाता है और देश में विभिन्न धर्मों के लिए अलग-अलग व्यक्तिगत कानून स्वीकृत हो जाते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि नागरिक या व्यक्तिगत/पारिवारिक मामलों की आड़ में कई अपराध हो रहे हैं जिन्हें किसी भी कीमत पर नागरिक समाज में अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 14 कानून के समक्ष समानता और कानून के समान संरक्षण की गारंटी देता है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 15 नागरिकों को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर हर तरह के भेदभाव से बचाता है। प्रस्तावना, हमारे संविधान की आत्मा और मार्गदर्शक प्रकाशस्तंभ, मूल संवैधानिक मूल्यों का प्रतिबिंब है। प्रस्तावना भारत को एक संप्रभु, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक, गणराज्य घोषित करती है जो लोगों के लिए न्याय, समानता और स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध है। अलग-अलग व्यक्तिगत कानून अलग-अलग व्यक्तियों पर केवल उनके धर्म के कारण लागू होना न केवल हमारे संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 का पूर्ण उल्लंघन है वरन हमारे संवैधानिक मूल्यों और उद्देश्यों की आत्मा और मूलवृत्ति के भी विरुद्ध है।

डॉ. ओ. पी. शुक्ला

नीति निदेशक तत्व और सामाजिक न्याय

अनुच्छेद 46 वंचितों के लिए कुछ अधिकारों के प्रोत्साहन के साथ-साथ सामाजिक अन्याय एवं शोषण से उनकी सुरक्षा पर भी जोर देता है। विधि व्यवस्था एवं न्यायालयी निर्णयों के साथ यथार्थ का विश्लेषण

"हर संविधान का एक आदर्श और उद्देश्य होना चाहिए, और जितना अधिक मैं भारत के संविधान से परिचित होता हूं जोकि दुनिया में सबसे लंबा संविधान है, उतना ही मुझे विश्वास होता है कि इसका दिल भाग IV (राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत) में है।"

फली सैम नरीमन, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित और प्रसिद्ध कानूनी विद्वान और भारत के सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता ने अपनी पुस्तक[1] में कहा है कि: '*राज्य के नीति निदेशक तत्व*' ही "*संविधान का दिल*" हैं। 'केशवानंद भारती' के मामले में सुप्रीम कोर्ट के जस्टिस केएस हेगड़े ने कहा कि "*मौलिक अधिकार और निदेशक तत्व संविधान की अंतरात्मा" का गठन करते हैं*"।[2] जबकि, भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति एमसी छागला का विचार था कि, यदि इन सभी तत्वों को पूरी तरह से लागू किया जाता है, तो हमारा देश वास्तव में पृथ्वी पर एक स्वर्ग होगा। दूसरी ओर, डॉ. अंबेडकर ने कहा था कि निदेशक तत्वों का बहुत महत्व है क्योंकि वे राजनीतिक लोकतंत्र के बजाय आर्थिक लोकतंत्र के उद्देश्य को पूरा करते हैं।

28 सितंबर 2013 को नई दिल्ली में "भारतीय संविधान और समावेशी विकास के निर्देशक सिद्धांतों" पर 'भारतीय बार परिसंघ' द्वारा आयोजित एक संगोष्ठी में बोलते हुए, मुख्य न्यायधीश न्यायमूर्ति श्री पी सदाशिवम ने कहा कि - मौलिक अधिकार और निदेशक तत्व यदि सामाजिक व्यवस्था को पुन: प्राप्त करना है और लोगों को सशक्त बनाना है तो राज्य की नीति को संतुलित और सुसंगत बनाने की आवश्यकता है। भारत के मुख्य न्यायधीश ने कहा कि - '*मिनर्वा मिल्स*' मामले के ऐतिहासिक फैसले में, संविधान पीठ ने माना था कि मौलिक अधिकार और निदेशक तत्व समतावादी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में रथ के दो पहिए हैं। उन्होंने समावेशी विकास के सामने आने वाली चुनौतियों के बारे में भी बताया - गरीबी, शैक्षिक भेदभाव, जाति और लिंग आधारित भेदभाव। "वर्चस्व, भेदभाव और अभाव सामाजिक बहिष्कार के तीन महत्वपूर्ण निर्धारक हैं। सामाजिक बहिष्कार भौतिक और आर्थिक दो तरह से चोट पहुँचाकर गरीबी का कारण बनता है "।[3] भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी, जिन्होंने संगोष्ठी का उद्घाटन किया, ने राज्य के नीति निदेशक तत्वों को "सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का सबसे शानदार '*मैग्ना कार्टा*' के रूप में वर्णित किया"। राष्ट्रपति ने कहा कि महात्मा गांधी ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम, सूचना का अधिकार अधिनियम और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, निदेशक तत्वों की भावना के अनुरूप कानून बनाए गए हैं। राष्ट्रपति ने आगे कहा कि "नीति निर्माण में राज्य नीति के संवैधानिक निदेशक तत्वों का अधिक से अधिक अनुप्रयोग समावेशी विकास प्राप्त करने की खोज में एक प्रभावी साधन बन सकता है?"[4]

संविधान का भाग IV - निदेशक तत्वों में 16 अनुच्छेद (36 से 51) हैं। ये अनुच्छेद मुख्य रूप से लोगों के कल्याण, बेहतर आजीविका की स्थिति, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, जरूरतमंदों को न्याय दिलाने में कानूनी पेशे की भूमिका एवं अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और समाज के कमजोर वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक

हितों को बढ़ावा देते हैं और उन्हें शोषण से बचाते हैं। ये निदेशक तत्व इस बात पर जोर देते हैं कि प्रशासन और साथ ही कानून बनाने के संदर्भ में दोनों स्तर पर इसका पालन करना राज्य का कर्तव्य होगा। ये गणतंत्रात्मक संविधान के तहत राज्य के लक्ष्यों और उद्देश्यों को शामिल करते हैं। उदाहरण के लिए, कि यह एक 'कल्याणकारी राज्य' है[5] और सामाजिक-आर्थिक न्याय का आदर्श न कि केवल पुलिस राज्य।[6]

संविधान की प्रारूप समिति आयरलैंड के राष्ट्रवादी आंदोलन से काफी प्रभावित थी। वे निश्चित रूप से आयरिश संविधान के निर्देशक तत्वों के रूप से प्रभावित थे। हालांकि इनके लिए अन्य प्रमुख स्रोत भारतीय परिषद अधिनियम, 1909, भारत सरकार अधिनियम, 1919 और भारत सरकार अधिनियम 1935, नेहरू रिपोर्ट (मोतीलाल नेहरू) 1928 और सप्रू समिति रिपोर्ट, 1945 थे। प्रारूप समिति के अध्यक्ष - डॉ. बी.आर. अंबेडकर पश्चिमी राजनीतिक विचारों और नस्लीय भेदभाव के खिलाफ अमेरिकी नागरिक अधिकार आंदोलन के बेहद प्रभावित थे।[7] प्रारूप समिति ने 1937 के आयरिश संविधान से निदेशक तत्वों को लेते हुए भारतीय संविधान के भाग IV में शामिल किया। निर्देशक तत्वों का दायरा बहुत व्यापक है। इनमें न केवल आर्थिक अधिकार शामिल हैं, बल्कि सामाजिक न्याय, आर्थिक कल्याण, विदेश नीति और प्रशासनिक मामलों से संबंधित सिद्धांत भी शामिल हैं। कुछ हद तक इसे संविधान सभा की वैचारिक विविधता के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

भारतीय संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका सहित दुनिया के अन्य संविधानों से इस मायने में अद्वितीय है कि इसमें मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्व शामिल हैं। इस प्रकार, निदेशक तत्व उन विशेषताओं में से एक है जो भारतीय संविधान को दुनिया के अन्य संविधानों से अलग बनाता है।

लेखक को अनुच्छेद 46 के विशिष्ट संदर्भ में 'निर्देशक सिद्धांतों' पर लिखने के लिए कहा गया है। लेखक का विचार है कि अनुच्छेद 46 निदेशक तत्वों का एक केंद्र बिंदु है, जो अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के कुछ निश्चित अधिकारों और सामाजिक अन्याय एवं शोषण से सुरक्षा के प्रचार-प्रसार को सशक्त रूप से रेखांकित करता है। अत: लेखक का प्रयास रहेगा कि वह अनुच्छेद 46 तक ही सीमित होकर इस लेख को पठनीय और अर्थपूर्ण बना सके।

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका

निर्देशक तत्वों पर सर्वोच्च न्यायालय के कुछ प्रारंभिक निर्णयों के आंकलन से पता चलता है कि सर्वोच्च न्यायालय ने निदेशक तत्वों को लेकर इस आधार पर बहुत कम ध्यान दिया कि उन्हें लागू करने में अदालतों के लिए बहुत कुछ नहीं था क्योंकि वे मौलिक अधिकारों की तरह न्यायोचित या लागू करने योग्य नहीं है। निर्देशक तत्वों के संबंध में अदालतों की भूमिका बाद के फैसलों में अहम दिखाई दी, जिसकी परिणति केशवानंद के मामले में 13-सदस्यीय खंडपीठ के रूप में हुई।[8]

देश के अभिशासन की जिम्मेदारी राज्य के तीन अंगों के पास होती है - कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका। हालाँकि सामाजिक परिवर्तन या सामाजिक न्याय की पहल में मुख्य भूमिका विधायिका की होती है। इस प्रकार, कार्यान्वयन की मुख्य जिम्मेदारी विधायिका पर होती है।[9] निदेशक तत्वों के कार्यान्वयन के संबंध में अभिशासन के तीनों अंगों के कामकाज का तुलनात्मक मूल्यांकन यह बताता है कि संविधान के संस्थापकों द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में किस अंग ने निदेशक तत्वों का अधिक उपयोग किया है। इस संदर्भ में कोई भी स्पष्ट रूप से कह सकता है कि वह न्यायपालिका है जिसने जरूरतमंद और वंचितों के '*सामाजिक न्याय*' को सुरक्षित करने के लिए निदेशक तत्वों का

अधिकतम उपयोग किया है।

निदेशक तत्व और न्यायपालिका

1973 में केशवानंद भारती मामलों की सुनवाई के माध्यम से अदालत ने निदेशक तत्वों को लागू करने की पहल की। सुप्रीम कोर्ट ने अदालतों के समक्ष भविष्य के मामलों पर प्रभाव डालने वाले कुछ व्यापक प्रस्ताव रखे। न्यायालय ने निदेशक तत्वों में से एक, अनुच्छेद 39 (बी)-(सी) के विभिन्न पहलुओं की जांच करते हुए कहा कि "संविधान के अन्य प्रावधानों के साथ इन खंडों में एक मुख्य उद्देश्य शामिल है, जिसका नाम है, '*कल्याणकारी राज्य का निर्माण*', और एक '*समतावादी सामाजिक व्यवस्था*'[10] और कुछ सामाजिक एवं आर्थिक लक्ष्यों को तत्काल प्राप्त करने के लिए एक '*अहिंसक सामाजिक क्रांति*'।[11] ऐसी सामाजिक क्रांति के माध्यम से संविधान '*आम आदमी*' की बुनियादी जरूरत को पूरा करने और समाज की संरचना को बदलने[12] का प्रयास करता है, जिसके बिना '*राजनीतिक लोकतंत्र*' का कोई अर्थ नहीं है।"[13] एनएम थॉमस का मामला भी एक अन्य महत्वपूर्ण तरीके से परिवर्तनकारी था। यह संविधान में भाग - IV की भूमिका को स्पष्ट करने वाला पहला निर्णय था। उदाहरण के तौर पर निदेशक तत्व को तंत्र के मूल्य की एक व्यवस्था के रूप में, उन्होंने मौलिक अधिकार अध्याय में उल्लेखित अमूर्त अवधारणा को जीवन दिया।[14]

अनुच्छेद 46: निदेशक तत्वों का केंद्र बिंदु

अनुच्छेद 46: अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य कमजोर वर्ग के शैक्षिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा देना। राज्य लोगों के कमजोर वर्ग और विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को विशेष सावधानी के साथ बढ़ावा देगा, और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।[15]

इस अनुच्छेद में मुख्य रूप से तीन भाग हैं। (1) राज्य विशेष सावधानी के साथ अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के 'शैक्षिक (2) और आर्थिक हित' (3) को

इस अनुच्छेद में मुख्य रूप से तीन भाग हैं। (1) राज्य विशेष सावधानी के साथ अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के 'शैक्षिक (2) और आर्थिक हित' (3) को बढ़ावा देगा, और 'उन्हें 'सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के 'शोषण' से बचाएगा। पहले भाग में शैक्षिक और दूसरे भाग में, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के आर्थिक हित को बढ़ावा देना अनिवार्य है

बढ़ावा देगा, और 'उन्हें 'सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के 'शोषण' से बचाएगा। पहले भाग में शैक्षिक और दूसरे भाग में, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के आर्थिक हित को बढ़ावा देना अनिवार्य है। जबकि, अंतिम भाग अन्य बिन्दुओं के साथ-साथ उक्त सामाजिक समूहों के 'सामाजिक अन्याय' और 'सभी प्रकार के शोषण' से सुरक्षा को रेखांकित करता है। 'सामाजिक न्याय' के दृष्टिकोण से, अनुच्छेद 46 निदेशक तत्वों के सबसे महत्वपूर्ण और केंद्र बिंदु में से एक है। इसलिए सरकार को इस प्रावधान पर अत्यधिक ध्यान देना चाहिए था लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ।

शैक्षिक हितों का संवर्धन और संरक्षण

संविधान में विभिन्न संशोधन हैं जो सर्वोच्च न्यायालय की पहल पर किए गए थे। उदाहरण के लिए 42वां संशोधन, (1976) अनुच्छेद 39, 39ए, 43ए, 48ए, 44वां संशोधन (1978) अनुच्छेद 38, 97वां संशोधन (2011), अनुच्छेद 43बी और 86वां संशोधन (2002) अनुच्छेद 21ए। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि न्यायपालिका ने अभिशासन की किसी भी अन्य अंग की तुलना में निदेशक तत्वों का अधिक उपयोग किया है।

1. अनुच्छेद 21ए - शिक्षा का अधिकार।[16] अनुच्छेद 45 निदेशक तत्वों को लागू करते हुए, प्रारंभिक शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। संविधान के इस संशोधन के माध्यम से प्रारंभिक शिक्षा को मौलिक अधिकार बना दिया गया। इसका उद्देश्य देश में 6-14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों को निशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करना था।

2. अनुच्छेद 39ए - समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता। अनुच्छेद 39ए को संविधान (42वाँ संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा डाला गया था।[17] इसका प्राथमिक उद्देश्य समाज के उन गरीब और कमजोर वर्गों को निशुल्क कानूनी सेवाएं प्रदान करना है, जो अदालत में सुनवाई के लिए एक वकील की विधिक सेवाएं लेने में सक्षम नहीं हैं।

अनुच्छेद 21ए, 39ए, 43ए, और 38 अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के सामाजिक-आर्थिक और शैक्षिक विकास पर सीधा असर डालते हैं। उदाहरण के लिए, अनुच्छेद 21ए और 39ए में संशोधन अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के शैक्षिक और अन्य हितों को बढ़ावा देने और संरक्षण के लिए एक अच्छी पहल है। जहां तक प्राथमिक शिक्षा का संबंध है, भारत ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण सफलता हासिल की है लेकिन केंद्र और राज्य सरकार दोनों के लिए ड्रॉपआउट दर और सीखने का निम्न स्तर एक बड़ी चुनौती रही है। हालांकि शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 ने 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया है, लेकिन कुछ पिछड़े राज्यों के स्कूलों में पेयजल, शौचालय, खेल का मैदान, शिक्षक और स्कूल भवन आदि पर्याप्त आधारभूत ढांचा तक नहीं है।

द टेलीग्राफ की हालिया रिपोर्ट (बसंत कुमार मोहंती - 9 सितंबर, 2022 को प्रकाशित ऑनलाइन रिपोर्ट) में लिखा गया है कि 2018-19 के दौरान 51,000 सरकारी स्कूल बंद कर दिए गए। शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले एक कार्यकर्ता के अनुसार, नियमित शिक्षकों की नियुक्ति में केंद्र और राज्य सरकार की विफलता और सर्वेक्षण एवं चुनाव कार्यों में शिक्षकों की नियुक्ति ने शिक्षण और सीखने की गुणवत्ता को प्रभावित किया, जिससे अभिभावकों का झुकाव निजी स्कूलों की ओर अधिक बढ़ा।

अखिल भारतीय अभिभावक-शिक्षक संघ

के अध्यक्ष और दिल्ली विश्वविद्यालय के सदस्य अशोक अग्रवाल के अनुसार, यह स्थिति अगले दो दशकों में और खराब हो जाएगी और सरकारी स्कूली शिक्षा प्रणाली जो निशुल्क शिक्षा प्रदान करती है, को लेकर उम्मीद की जा रही थी कि यह गरीबों के लिए जीवन रेखा साबित होगी लेकिन यह समाप्ति की ओर अग्रसर है। भोजन का अधिकार अभियान कार्यकर्ता समीत पांडा, जो ओडिशा में शिक्षा के अधिकार अधिनियम के अनुपालन को सुनिश्चित करने की दिशा में भी काम करते हैं के अनुसार, केंद्र की विद्यालयों को बंद करने की नीति के कारण कई आदिवासी बच्चे शिक्षा से वंचित हो गए हैं। एक अन्य कार्यकर्ता मित्रा रंजन ने इसी संदर्भ में कहा है कि सरकार अपनी जिम्मेदारी से भाग रही है। उन्होंने आगे कहा कि सरकार को ड्रॉपआउट और बाल मजदूरी में लगे बच्चों को चिन्हित करना चाहिए और उन्हें वापस स्कूल लाया जाना चाहिए। तभी सभी सरकारी स्कूलों में बच्चे आएंगे। देश के शिक्षा मंत्री धर्मेंद्र प्रधान ने इस साल मार्च में राज्यसभा के एक सवाल के जवाब में कहा कि स्कूलों को खोलना या बंद करना राज्य की सरकारों का कर्तव्य/कार्य था, क्योंकि शिक्षा समवर्ती सूची का हिस्सा है।

पिछड़े राज्यों - यूपी, एमपी, ओडिशा और बिहार आदि में शिक्षा प्रणाली लगभग ध्वस्त हो चुकी हैं। इसके अलावा सरकार का यह हालिया नीतिगत निर्णय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति समुदाय को बुरी तरह प्रभावित करने वाले हैं और इस हिसाब से निदेशक तत्वों का महत्व, विशेष रूप से अनुच्छेद 46, जिसे अनुच्छेद 21ए के साथ जोड़कर देखा जाता है, निरर्थक होने जा रहा है।[18]

आर्थिक हितों का संवर्धन और संरक्षण

विधानमंडलों में आरक्षण के अलावा संविधान कई सुरक्षा उपाय, रियायतों का लाभ (शिक्षा और सरकारी नौकरी/रोजगार में आरक्षण) अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति समुदाय को उपलब्ध करवाता है।[19] इन सामाजिक समूहों के लिए संविधान के तहत आरक्षण और अन्य लाभों के सवाल पर और अनुच्छेद 46 में वर्णित निदेशक तत्वों के अनुसरण में, 1976 में सुप्रीम कोर्ट ने एन एम थॉमस केस में बिना किसी आरक्षण के कमजोर वर्गों के पक्ष में अपनी बात रखी थी।[20] सर्वोच्च न्यायालय ने श्रम कानून से संबंधित अनेक निर्णयों में निर्वाह मजदूरी जैसे अधिकारों को भी स्पष्ट किया है।[21]

इस ऐतिहासिक फैसले (एन एम थॉमस) में सर्वोच्च न्यायालय ने पहली बार 'क्रीमी लेयर' के सिद्धांत को पेश किया था। सर्वोच्च न्यायालय ने 1992 में इंद्रा साहनी में एक अन्य ऐतिहासिक निर्णय में परस्पर यह भी माना कि संविधान के अनुच्छेद 46 के साथ पढ़ा गया अनुच्छेद 16 एक गतिशील अवधारणा को समक्ष रखता है जो राज्य को अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के शोषण को यथासंभव शीघ्रता से समाप्त करने का निर्देश देता है।[22]

हैरानी की बात यह है कि संविधान में आरक्षण और अन्य कल्याणकारी योजनाओं के लाभों के समान वितरण के लिए कोई तंत्र नहीं है। हालाँकि कई संवैधानिक प्राधिकरण हैं उदाहरण के तौर पर राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग और राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग संविधान के अनुच्छेद 338 और 338 ए के तहत बनाया गया। इन प्राधिकरणों का कार्य अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के हितों की निगरानी और सुरक्षा करना है। अफसोस की बात है कि इन आयोगों पर हमेशा से प्रभुत्वशाली अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति का दबदबा रहा है। इसलिए ये आयोग या प्राधिकरण अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अन्य निचले वर्ग के लिए किसी काम के नहीं हैं। इस प्रकार, ऐसी स्थिति में प्रभुत्वशाली और शक्तिशाली लोग अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आरक्षण नीति और अन्य लाभों का अधिकतम फायदा उठा रहे हैं। जबकि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति में अत्यंत पिछड़ी जातियों/जनजातियों को कुछ नहीं मिल रहा है इसलिए समानता संहिता - अनुच्छेद 14 से 16 एवं अनुच्छेद 46 समाज के उपेक्षित और वंचित वर्गों के लिए अर्थहीन है।

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के निचले तबके की ओर से शुरू से ही आरक्षण और अन्य सरकारी कल्याणकारी योजनाओं में उनके हिस्से की मांग लगातार की जाती रही है। इसलिए पंजाब सरकार ने विभिन्न सामाजिक समूहों के भीतर लाभों के समान वितरण के लिए 1960-70 में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के 'उप-वर्गीकरण' की नीति अपनाई थी। बाद में इस नीति को 1990 में हरियाणा, 2000 में उत्तर प्रदेश और अरुणाचल प्रदेश और 2007 में बिहार द्वारा अपनाया गया था। लेकिन इस नीति को आंध्र प्रदेश के प्रभुत्वशाली सामाजिक समूहों से संबंधित 'ईवी चिन्नैया' ने सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी। इस दौरान प्रभुत्वशाली जातियों[23], 'आरक्षण नीति' और इसे लागू करने के तरीके के खिलाफ भी भारी विरोध हुआ था।

हालाँकि 1992 में 'इंदिरा साहनी' के मामले के बाद सर्वोच्च न्यायालय के लिए 'ईवी चिन्नैया' मामले[24] में आरक्षण नीति से जुड़ी विसंगतियों को ठीक करने और नीति को संविधान के अनुच्छेद 46 के साथ

हैरानी की बात यह है कि संविधान में आरक्षण और अन्य कल्याणकारी योजनाओं के लाभों के समान वितरण के लिए कोई तंत्र नहीं है। हालाँकि कई संवैधानिक प्राधिकरण हैं उदाहरण के तौर पर राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग और राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग संविधान के अनुच्छेद 338 और 338 ए के तहत बनाया गया। इन प्राधिकरणों का कार्य अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के हितों की निगरानी और सुरक्षा करना है। अफसोस की बात है कि इन आयोगों पर हमेशा से प्रभुत्वशाली अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति का दबदबा रहा है। इसलिए ये आयोग या प्राधिकरण अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अन्य निचले वर्ग के लिए किसी काम के नहीं हैं

अनुच्छेद 14 से 16 के तहत अनिवार्य रूप से निष्पक्ष, न्यायसंगत और न्यायसंगत बनाने का अवसर था। लेकिन दुख की बात है यह है कि अदालत ने 2005 में प्रभुत्वशाली जातियों के पक्ष में और गरीब, उपेक्षित और वंचित सामाजिक समूहों के खिलाफ फैसला सुनाया। यह अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के उपेक्षित और वंचित वर्गों के लिए एक बहुत बड़ी निराशा थी। इसलिए लेखक ने न्यायिक हस्तक्षेप का सहारा लिया और सर्वोच्च न्यायालय में फैसले (ईवी चिन्नैया) को चुनौती देते हुए एक जनहित याचिका दायर की और अदालत के आदेश की पुनः समीक्षा और आरक्षण के लाभों के समान वितरण की मांग की। वर्तमान में मामला अंतिम निर्णय के लिए सर्वोच्च न्यायालय में लंबित है।[25]

सामाजिक अन्याय और शोषण से सुरक्षा

हमने पाया है कि सामाजिक अन्याय और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के शोषण का मुख्य कारण हमारे समाज में मौजूद सामाजिक-आर्थिक असमानताएँ हैं। इसके अलावा सामाजिक अक्षमताएँ - अस्पृश्यता, निरक्षरता, गरीबी, जाति के आधार पर भेदभाव, बेरोजगारी और गरीबी भी इसके प्रमुख कारण है। संविधान के अनुच्छेद 39 के साथ अनुच्छेद 23 और 24 के तहत इस शोषण को भी प्रतिबंधित किया गया है। हालांकि अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए प्रदान किए गए विभिन्न संवैधानिक सुरक्षा उपायों और रियायतों के बावजूद, वे कमजोर बने हुए हैं। यह सच है कि उन्हें कई नागरिक अधिकारों से वंचित रखा गया और उन्हें विभिन्न अपराधों, तिरस्कार, अपमान और उत्पीड़न के माध्यम से प्रताड़ित भी किया गया है।

इन परिस्थितियों में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के खिलाफ अपराध को रोकने के लिए एक विशेष कानून बनाना आवश्यक समझा गया। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए भारत सरकार ने अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 को अधिनियमित किया। हालांकि आज तक अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के खिलाफ अपराध करने वाली प्रमुख उच्च जातियों की मानसिकता और व्यवहार में कोई बदलाव नहीं आया है और अपराध कम होने के बजाय बढ़ते ही जा रहे हैं।[26] आज भी संविधान संस्थापकों द्वारा जरूरतमंद और अन्य वंचित वर्गों के लिए परिकल्पित हक को उन्हें नहीं दिया गया है। इस अभागे वर्ग के धैर्य की सराहना करनी चाहिए कि उन्होंने अभी तक विद्रोह नहीं किया। हालाँकि राष्ट्र उन्हें बहुत अधिक समय तक नजरंदाज नहीं कर सकता। हमें डॉ अंबेडकर के जनवरी, 1950 में संसद में दिए गए प्रसिद्ध भाषण को याद रखना चाहिए:

"26 जनवरी 1950 को हम अंतर्विरोधों के जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं... हम कब तक इन अंतर्विरोधों के साथ जीवन जीते रहेंगे? कब तक हम अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में समानता को नकारते रहेंगे? अगर हम इसे लंबे समय तक नकारते रहे, तो हम अपने राजनीतिक लोकतंत्र को खतरे में डाल रहे होंगे। हमें इस अंतर्विरोध को जल्द से जल्द दूर करना होगा, नहीं तो जो लोग असमानता से पीड़ित हैं, वे राजनीतिक लोकतंत्र की संरचना को उखाड़ देंगे, जिसे इस सभा ने इतनी मेहनत से बनाया है।"[27]

हमने पाया है कि सामाजिक अन्याय और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के शोषण का मुख्य कारण हमारे समाज में मौजूद सामाजिक-आर्थिक असमानताएँ हैं। इसके अलावा सामाजिक अक्षमताएँ - अस्पृश्यता, निरक्षरता, गरीबी, जाति के आधार पर भेदभाव, बेरोजगारी और गरीबी भी इसके प्रमुख कारण है। संविधान के अनुच्छेद 39 के साथ अनुच्छेद 23 और 24 के तहत इस शोषण को भी प्रतिबंधित किया गया है

क्या संविधान ने सामाजिक न्याय को बाधित किया है?[28]

अस्सी के दशक से पहले यह धारणा थी कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा व्याख्यायित संविधान 'सामाजिक प्रगति' के रास्ते में बाधा है। एक और धारणा यह थी कि मौलिक अधिकारों का त्याग किए बिना निदेशक तत्वों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसलिए मौलिक अधिकारों और निदेशक तत्वों के बीच संघर्ष के संबंध में भ्रम था। प्रख्यात विद्वान एसपी साठे ने नीति निर्देशकों के कुछ सिद्धांतों की जांच की। उदाहरण के तौर पर अनुच्छेद 37, 38 और निम्न मामलों में सर्वोच्च न्यायलय के फैसले - ***चंपकम दोरायराजन,[29] भीम सिंह जी,[30] एनएम थॉमस,[31] फ्रांसिस कोरेली मुलिन,[32] अधिकृत अधिकारी तंजावुर,[33] एबीएसके संघ (रेलवे)[34]*** आदि। प्रो. साठे ने पाया कि पिछले 5 वर्षों में (1981 से पहले) सर्वोच्च न्यायालय की पहल 'सामाजिक न्याय' के मुद्दे पर निदेशक तत्वों और मौलिक अधिकारों की व्याख्या कमजोर वर्गों के लिए उनकी चिंता को दर्शाती है। वास्तव में सर्वोच्च न्यायालय के विभिन्न निर्णय स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि 'सामाजिक न्याय' उनकी सर्वोच्च प्राथमिकता थी। जबकि विधायिका के साथ-साथ सरकार सामाजिक न्याय को स्पष्ट करने के लिए एक ठोस और क्रांतिकारी कार्यक्रम लाने में विफल रही है। प्रो साठे ने सरकार को राष्ट्र की बेहतर सेवा के लिए सद्भाव के साथ काम करने का सुझाव दिया।[35]

यह भी एक तथ्य है कि आरक्षण नीति शुरू से ही आरक्षण विरोधी - उच्च जाति के हिंदुओं के विरोध के कारण विवादों में रही है। दूसरी ओर अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के बीच निहित स्वार्थी वर्ग (प्रभुत्वशाली जातियों) को आरक्षण के लाभों का दुरुपयोग करने और अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के अत्यंत पिछड़े और उपेक्षित वर्गों को मिलने वाले सभी लाभों को बेईमानी से हड़पने की छूट मिली।[36]

हालांकि आरक्षण नीति के पूर्वावलोकन से अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के बीच प्रभावशाली जातियों/समुदायों के 'उप-वर्गीकरण', 'क्रीमी लेयर' और

'बहिष्करण' के मुद्दे, अंतिम निर्णय के लिए सर्वोच्च न्यायालय में लंबित हैं। हम अभी केवल सर्वोच्च न्यायालय के अंतिम निर्णय की प्रतीक्षा कर सकते हैं, तब तक ऊपर उठाए गए प्रश्न पर कोई टिप्पणी करना सही या न्यायोचित नहीं होगा।

निर्देशात्मक सिद्धांतों का कार्यान्वयन?

प्रस्तावना: हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को: सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक **न्याय**, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की **स्वतंत्रता**, प्रतिष्ठा और अवसर की **समता** प्राप्त कराने के लिए,तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली **बंधुता** बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिती मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, सवंत दो हजार छह विक्रमी) को **एततद्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**[37]

प्रस्तावना संविधान का संक्षिप्त परिचय है। इसमें वे सभी उद्देश्य और सिद्धांत शामिल हैं जो समाजवादी, गांधीवादी और उदारवादी विचारधाराओं पर आधारित थे। यह भारत को एक संप्रभु 'समाजवादी' धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में संदर्भित करता है। प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ अंबेडकर इस बात को लेकर बिल्कुल स्पष्ट थे कि यह संविधान सभा का विशेषाधिकार नहीं था कि वह भविष्य की पीढ़ी पर एक आर्थिक दर्शन, या एक आर्थिक प्रणाली थोप सके।[38] भारतीय संविधान एक समाजवादी सरकार के अनुकूल था और कुछ मामलों में (विशेषकर राज्य के नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से) यह समाजवाद को भी प्रोत्साहित करता है। हालाँकि यह एक समाजवादी संविधान नहीं था।[39] हमारी स्वतंत्रता के प्रारंभिक वर्षों में यह माना जाता था कि निदेशक तत्वों के उद्देश्यों को केवल '*समाज के समाजवादी पैटर्न*' द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसमें अधिग्रहण, राष्ट्रीयकरण, राज्य के एकाधिकार का निर्माण आदि शामिल है। लेकिन बाद के दशकों में इस नीति की इस आधार पर आलोचना हुई कि यह देश में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए '*आम आदमी*' की स्थिति में सुधार करने में विफल रही है। यह भी महसूस किया गया कि सरकार अर्थव्यवस्था-व्यापार, वाणिज्य और उद्योग को ठीक से चलाने में असमर्थ है, जिसके कारण सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम संपत्ति के बजाय एक दायित्व बन गए हैं। हालाँकि 1990 के दशक में आंशिक रूप से वैश्वीकरण और आर्थिक सुधार के प्रभाव में विभिन्न देशों के बीच व्यापार और वाणिज्य बढ़ गया था और राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों तरह का अंतरराष्ट्रीय माहौल था, जिसके परिणामस्वरूप देश में उदारीकरण और आर्थिक सुधार हुए।

क्या हम 'आम आदमी' को भूल गए हैं?[40]

लेखक को '*भारतीय संविधान और सामाजिक न्याय*'[41] पर एक लेख लिखने और 1990 के दशक के वैश्वीकरण और आर्थिक सुधार की नीति के खतरों पर चर्चा करने का अवसर मिला। भारत के पूर्व राष्ट्रपति के आर नारायणन आर्थिक सुधार नीति और हाशिये पर खड़े सामाजिक समूहों पर पड़ने वाले इसके प्रभाव को आशंकित थे। इस प्रकार, उन्होंने पाया कि:

"उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के हमारे तीन-तरफा गतिशील मार्ग को अशक्त भारत के लिए भी सुरक्षित पैदल यात्री क्रॉसिंग प्रदान करनी चाहिए, ताकि यह भी स्थिति और अवसर की समानता की ओर बढ़ सके।"[42]

इसी तरह न्यायमूर्ति राजेंद्र सच्चर और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जगदीश भगवती ने भी इसी तरह के विचार व्यक्त किए हैं।[43] अफसोस की बात है कि आर्थिक सुधार नीति का अध्ययन करते समय चतुर्थ श्रेणी या ग्रेड डी की रोजगार/सेवाएं सरकार के निशाने पर थीं। वास्तव में ये सेवाएँ समाज के गरीब और कमजोर वर्गों के लिए अस्तित्व का एकमात्र स्रोत थीं।

यह देखा गया कि 1990 के दशक में केंद्रीय वेतन आयोगों (5वें और 6वें) ने अपनी रिपोर्ट में चतुर्थ श्रेणी/ग्रेड 'डी' सरकारी नौकरियों/रोजगार को समाप्त करने की सिफारिश की थी। चतुर्थ श्रेणी/ग्रेड डी में मुख्य रूप से चपरासी, चौकीदार, सफाईवाला, स्वीपर, सीवर मैन, वाटर मैन, खलासी, दफ्तरी आदि जैसे छोटे और छोटे काम/रोजगार शामिल हैं। ये नौकरियाँ/ रोजगार केवल अकुशल, अर्ध-शिक्षित और अनपढ़ व्यक्तियों के लिए हैं। तत्कालीन कांग्रेस सरकार देश में अत्यंत पिछड़े अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की जमीनी हकीकत और दुर्दशा से पूरी तरह वाकिफ थी। इसके बाद भी उन्होंने सही या गलत, पिछले 40-45 वर्षों के दौरान आरक्षण और अन्य सरकारी नीतियों के लाभों की उपेक्षा कर उन्हें नकारा था। अफसोस की बात ये है कि सरकार ने वैश्वीकरण और आर्थिक सुधारों की आड़ में वेतन आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करने का नीतिगत फैसला लिया। आखिरकार इन सभी लघु कामों/ रोजगारों के लिए नियुक्ति बाहरी स्रोतों से की जाने लगी।[44]

आपको केरल राज्य बनाम एनएम थॉमस मामले में सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक फैसले को याद कर सकते हैं। '***अवसर की समानता***' और '***वितरणात्मक न्याय***' के सिद्धांत पर चर्चा करते हुए न्यायालय ने समाज के गरीब, उपेक्षित और वंचित वर्गों के लिए सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को निर्धारित किया। न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर ने परस्पर गौर किया कि :

"....जाहिर है, अनुच्छेद 16(4) को सरकार में और अधिक हरिजनों को मैला ढोने और सफाईकर्मी के रूप में नहीं बल्कि 'अधिकारियों और मालिकों' के रूप में सरकार में लाने के लिए बनाया किया गया था, ताकि प्रशासनिक शक्ति उच्च और निम्न की सामान्य संपत्ति बन सके और समरूप से एक समुदाय में एकीकृत हो सके।[45]

सरकार ने वैकल्पिक नौकरी या व्यवसाय प्रदान किए बिना अपने विनाशकारी नीतिगत निर्णय से समाज के इस गरीब और उपेक्षित वर्ग को बेरोजगार कर दिया। यह समाज के वंचित वर्गों के "रोटी, कपड़ा और मकान" पर एक सुविचारित और सुनियोजित हमला था। यह ठीक एनएम थॉमस मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रतिपादित 'सामाजिक न्याय' के न्यायशास्त्र, और अन्य बाद के फैसलों और भारत के संविधान की उपेक्षा एवं अनादर

था, जैसा कि ऊपर चर्चा की गई है।

सफाई कर्मचारी और सीवर सफाई में होने वाली मौतें

सरकार आजादी के 75 साल को 'अमृत महोत्सव' के रूप में मना रही है लेकिन आश्चर्य कि बात है कि सरकार इस लंबी अवधि के दौरान हाथ से मैला ढोने की अमानवीय बर्बर प्रथा को समाप्त नहीं कर सकी। हालाँकि सरकार ने संविधान के निदेशक तत्वों के अनुच्छेद 46 को लागू करके एक सामाजिक कानून बनाया था - *'हाथ से मैला ढोने वालों के रूप में रोजगार का निषेध, और उनका पुनर्वास अधिनियम, 2013'*।[46] सरकार बार-बार यह दावा करती रही है कि हाथ से मैला ढोने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया है लेकिन उपलब्ध मीडिया रिपोर्ट्स के साथ-साथ आंकड़े बताते हैं कि कानून के लागू न होने के कारण यह एक बड़ी विफलता साबित हुई है।

संविधान में अनुच्छेद 17 को शामिल करके अस्पृश्यता को बहुत पहले समाप्त कर दिया गया था। इसके साथ ही अस्पृश्यता की प्रथा को '*संवैधानिक अपराध*' भी बना दिया गया था। हैरानी की बात यह है कि देश में आज भी अस्पृश्यता और हाथ से मैला ढोने की प्रथा मौजूद है। देश के दैनिक समाचार पत्र लगभग हर दिन हाथ से मैला ढोने और 'स्वच्छता श्रमिकों' की 'सीवर में होने वाली सफाईकर्मियों की मौतों' की घटनाओं की रिपोर्ट कर रहे हैं।[47] देश में सफाईकर्मियों की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मौतें हो रही हैं। 2007 की तहलका पत्रिका की 'विशेष रिपोर्ट' में कहा गया है कि देश भर में हर साल 22,000 सफाई कर्मचारी मर रहे हैं।[48] इसके विपरीत भारत सरकार संसद में झूठा बयान दे रही है कि - "सरकार ने हाथ से मैला ढोने की प्रथा को समाप्त करने का लक्ष्य हासिल कर लिया है"।[49] दिल्ली उच्च न्यायालय ने ऐसे ही एक मामले में कहा कि - "हमारे समाज ने हाथ से मैला ढोने वालों को हाशिए पर डाल दिया है और वे पीढ़ियों से "अदृश्य और विस्मृत" बने रहे।"[50]

मैला ढोने वालों और सफाई कर्मचारियों के कल्याण और पुनर्वास के लिए भारत के केंद्रीय बजट में आवंटित राशि बहुत कम खर्च होती है और अप्रयुक्त रहती है। कई बार तो इसे जारी भी नहीं किया जाता है। उदाहरण के लिए 2020-2021 की अवधि के लिए हाथ से मैला ढोने वालों के पुनर्वास के लिए स्वरोजगार योजना के लिए आवंटित बजट 110 करोड़ था लेकिन सितंबर तक एकत्र किए गए आंकड़ों से पता चला है कि कोई अनुदान जारी नहीं किया गया था। कार्यान्वयन एजेंसी - राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी वित्त एवं विकास निगम से हाथों से मैला ढोने वालों और उनके आश्रितों को पुनर्वास लाभ देने के लिए महज 11.80 करोड़ के अनुदान की जानकारी प्राप्त हुई। इससे जुड़े प्रश्न के जवाब में कहा गया कि इस साल मध्य सितंबर तक कुशल विकास प्रशिक्षण के लिए हाथ से मैला ढोने वाले या उनके परिवार के सदस्यों की पहचान नहीं की गई थी।[51] इस तरह सरकार ने आवंटित राशि का उपयोग किया। इसलिए राशि का आवंटन सिर्फ एक वार्षिक औपचारिकता या प्रथागत अभ्यास बन गया है।

डॉ. उषा रामनाथन, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त न्यायविद, 'अनसीन, द ट्रुथ अबाउट इंडियाज मैनुअल स्कैवेंजर्स' पुस्तक के लेखक भाषा सिंह के लिए अपने प्रशंसा नोट में परस्पर लिखा कि :

"अनुच्छेद 17 ने अस्पृश्यता को संवैधानिक अपराध घोषित किया। 40 साल से अधिक का समय बीत चुका था। 1993 में, संसद ने हाथ से मैला ढोने की प्रथा को एक सतत अभिशाप के रूप में स्वीकार कर इसे समाप्त करने के लिए एक कानून बनाया। दस साल बाद कानून को निष्क्रियता से बाहर खींचकर अदालत कक्ष में लाकर उसे वापस सक्रिय करने के लिए मजबूर होना पड़ा। एक और दशक बीत चुका है और अदृश्यता, अस्वीकार्यता, उपेक्षा और उदासीनता के खिलाफ संघर्ष जारी है। भाषा की कथा उन लोगों की आवाज, क्रोध, साहस और अदम्य भावना से परिपूर्ण है, जिन्हें यह तंत्र अपवित्र कैद में रखता है, और जिनकी पीढ़ी को इस घृणित प्रथा से तौला गया है, जो अबाधित, अस्पृश्यता को कायम रखती है।"[52]

मशहूर नृत्यांगना और कार्यकर्ता मलिका साराभाई के अनुसार - "यह कहना कि हमें भारतीय होने पर गर्व है, अपने हाथों से मानव मल इकट्ठा करने के सबसे अमानवीय पेशे में लगे हमारे लोगों की शर्मनाक परिस्थितियों को नकारना है"।[53] एक प्रसिद्ध हिंदी लेखक- मैत्रेयी पुष्पा ने एक बहुत ही वैध प्रश्न उठाया है कि - "मानवता की किस परिभाषा में ये मनुष्य हैं जो हमारे मल को साफ करते हैं।[54] अस्पृश्यता का उन्मूलन और हाथ से मैला ढोने वालों की नियुक्ति पर रोक सरकार के लिए इतनी बड़ी समस्या क्यों बन गई है? उत्तर सरल है, लेखक के अनुसार, सरकार को इस मुद्दे को हल करने में कोई दिलचस्पी नहीं है क्योंकि सरकार ज्ञात कारणों के लिए यथास्थिति में विश्वास रखती है।

निदेशक तत्वों की विफलता

फली नरीमन ने अपनी पुस्तक[55] के चौथे अध्याय में सिद्धांतों की विफलता और देश के अभिशासन पर विस्तार से चर्चा की है। अभिशासन पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने प्रतिष्ठित ब्रिटिश वीकली पत्र के मत को उद्धृत किया: "भारत में तब तक कुशासन जारी रहेगा जब तक राजनीति दिन की राजनीति के अनुकूल नीतियां बनाने के अन्य तरीकों के बजाय नीतियों के लिए एक साधन के रूप में अधिक सक्रिय नहीं होगी"। उन्होंने आगे लिखा है कि 'इस देश पर अच्छी तरह से अभिशासन करने के लिए हमें उन समस्या को पहचानना चाहिए (और फिर उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए) जो सुशासन में बाधा डालती है'। फली नरीमन ने विभिन्न समस्याओं को रेखांकित भी किया जैसे - (1) राष्ट्रीय संसाधनों अत्यधिक दबाव (2) हमारे राजनीतिक अतीत की विरासतों से सीखने में विफलता (3) नेता और अधिकारियों (या उनमें से अधिकांश) का भ्रष्टाचार में संलिप्त होना[56] (4) संवैधानिक पदाधिकारी उस तरीके से कार्य करने में विफल रहते हैं, जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती है, खासकर जब परिस्थितियाँ विपरीत हो, और (5) क्षमता का संकट।[57] इसलिए इस विद्वान वरिष्ठ वकील ने देश के कुशासन के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारकों को रेखांकित किया है जोकि निदेशक तत्वों की विफलता के लिए भी जिम्मेदार हैं।

निष्कर्ष

'आम आदमी' अंतत: एक औसत भारतीय

का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन लेखक के अनुसार वह निश्चित रूप से निचले तबके का प्रतिनिधित्व नहीं करता है उदाहरण के तौर पर अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति। दोनों दो अलग-अलग सामाजिक समूहों और दो अलग-अलग भारत (भारत) का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक है 'प्रत्यक्ष भारत' और दूसरा है 'अप्रत्यक्ष भारत'।[58] भारत सरकार ने परस्पर यह स्वीकार किया है कि -

"हाथ से मैला ढोना एक आधुनिक गुलामी है। यह 21वीं सदी में भी जारी है, भारत में यह एक ऐसी चीज है जिससे हम सभी को भयभीत और आक्रोशित होना चाहिए।"[59]

पिछले 75 वर्षों के दौरान अनुच्छेद 14 से 16 के साथ जोड़कर पढे जाने वाले निदेशक तत्वों के अनुच्छेद 46 के अनुपालन में बहुत कम अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति से जुड़े हुए हैं, उदाहरण के तौर पर 1677 में से 6 से 8 में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति का ध्यान रखा गया है और उनमें से लगभग 1671 में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के विशाल बहुमत को संविधान के तहत अनिवार्य अवसरों से उपेक्षित और वंचित किया गया है।[60] गरीबी, भुखमरी से मौतें, बेरोजगारी, बाल श्रम, निरक्षरता, बाल वेश्यावृत्ति, तस्करी,अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति पर अत्याचार, सीवर से होने वाली मौतें और महिला के खिलाफ अपराध आदि हमारे देश की कुछ कड़वी सच्चाई हैं। बहुत हद तक देश के अभिशासन ने उस उद्देश्य को विफल कर दिया है जिसके लिए मौलिक अधिकार और निदेशक तत्व संविधान में शामिल किए गए थे। इसके अलावा देश में जिस भी तरीके से अभिशासन किया जा रहा है, चाहे वह समाजवादी हो या अभिशासन का संरक्षक पैटर्न हो, वह देश में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए 'आम आदमी' की स्थिति में सुधार करने में विफल रहा है, उसके पीछे कारण चाहे जो भी रहे हों।

उपरोक्त चर्चा से गुजरने के बाद लेखक का विचार है कि प्रस्तावना, मौलिक अधिकार और निदेशक तत्व (अनुच्छेद 46), इन सामाजिक समूहों (अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति) के लिए कोई अर्थ नहीं रखते हैं। इसके अलावा, केशवानंद भारती (1973), एनएम थॉमस (1976), मिनर्वा मिल (1980) आदि मामलों के ऐतिहासिक फैसले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रचारित और मजबूत करने वाले संविधान संस्थापकों द्वारा परिकल्पित 'कल्याणकारी राज्य' का उद्देश्य लगभग ध्वस्त हो गया है।

लेखक इस लेख को 'आम आदमी' द्वारा उठाए गए प्रश्नों के साथ समाप्त करना चाहेगा (हर किसी को यह ध्यान रखना होगा कि लेखक अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा है)। अगर हमें वर्तमान पीढ़ी के सदस्यों (आम आदमी द्वारा चयनित) के सामने हमारे अभिशासन का दस्तावेज प्रस्तुत करना है तो लेखक जिन लोगों का प्रतिनिधित्व करता हैं उनके आधार पर यह पूछने के लिए बाध्य है।[61]:

मुझे बताओ कि इसने मेरे लिए क्या किया?
हम कैसे बेहतर हैं?

अब इन सवालों के जवाब देने की बारी कार्यपालिका और विधायिका की है और इसका उत्तर है निष्ठा एवं ईमानदारी के साथ निदेशक तत्वों को लागू करना और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के समान विकास और समतावादी सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करने के लिए कल्याणकारी राज्य को फिर से स्थापित करना।

संदर्भ

1. फली एस नरीमन; द *स्टेट ऑफ द नेशन, इन द कंटेक्स्ट ऑफ द इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन*; नई दिल्ली, (2017), पृ. 247
2. केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, एआईआर 1973 एससी 1461
3. द *हिंदू*, सितंबर 30, 2013
4. द *बिजनेस स्टैंडर्ड न्यूज*, सितंबर 28, 2013। द *स्टेट्समैन न्यूज सर्विस*, सितंबर 2013 भी देखें।
5. केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, एआईआर 1973 एससी 1461
6. भारत संघ बनाम हिंदुस्तान डेवलपमेंट कॉरपोरेशन, एआईआर 1994 एससी 988 (990)। दुर्गा दास बसु, *शॉर्टर कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया*, 2021, खंड 1, पृ. 783; नई दिल्ली भी देखें।
7. कृपया देखें, स्टीफेन टक; *वी एंट, व्हाट वी ऑट टु बी, द ब्लैक फ्रीडम स्ट्रगल फ्रॉम इमैंसिपेशन टु ओबामा*, 2011, पृ. 281। मोहम्मद शब्बीर (सं)., *कॉन्स्टीटुएंट असेंबली ऑफ इंडिया: टास्क ऐंड मिशन*; बी.आर. अंबेडकर, *स्टडी इन लॉ ऐंड सोसायटी*, 1997, पृ. 44
8. केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, एआईआर 1973 एससी 1461
9. सत्य नारायण (सं.), सेलेक्टेड वर्क ऑफ एसपी साठे ऐंड कॉन्स्टीट्युशनलिज्म, 2015, खंड 1, पृ. 54, नई दिल्ली
10. केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, एआईआर 1973 एससी 1461
11. केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, एआईआर 1973 एससी 1461
12. केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, एआईआर 1973 एससी 1461
13. केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, एआईआर 1973 एससी 1461
14. गौतम भाटिया, *ट्रांसफॉर्मेटिव कांस्टीट्यूशन*, 2019, पृ. 76
15. दुर्गा दास बसु, *शॉर्टर कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया*, 2021 खंड 1, नई दिल्ली, पृ. 799
16. उन्नीकृष्णन बनाम आंध्र प्रदेश राज्य (1993) 1 एससीसी 645; अशोक कुमार ठाकुर बनाम बिहार राज्य, (1995) 5 एससीसी 403 (पैरा 3 एवं 17)
17. दुर्गा दास बसु, *शॉर्टर कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया*, 2021 खंड 1, नई दिल्ली, पृ. 799
18. रीमा नागराजन की विस्तृत रिपोर्ट देखें, स्कूल एनरोलमेंट डाटा इंडिकेट 45% ओबीसी-19% दलित्स इन इंडिया, जुलाई 30, 2021
19. अनुच्छेद 14 से 16, 46, 331 एवं 332। देखें ओ.पी. शुक्ल, लेजिस्लेटिव रिजर्वेशन ऐंड सोशल डेवलपमेंट, अंडर द इंडियन कंस्टीट्यूशन, 1919 पृ. 105-118 (एक अप्रकाशित शोध प्रबंध)। उन्नमति श्याम सुंदर (चयन एवं संपादन), *नो लॉफिंग मैटर*, 2019, पृ. 54-56
20. सत्य नारायण (संकलन-संपादन), उपेंद्र

बक्सी (भूमिका), *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ एसपी साठे ऐंड कॉन्स्टीट्यूशनलिज्म*, 2015, खंड -1, पृ. 54, नई दिल्ली

21. सत्य नारायण (संकलन-संपादन), उपेंद्र बक्सी (भूमिका), *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ एसपी साठे ऐंड कॉन्स्टीट्यूशनलिज्म*, 2015, खंड -1, पृ. 54, नई दिल्ली
22. इंद्र साहनी बनाम भारत संघ, एआईआर 1993 एससी 477 - नौ न्यायाधीश
23. प्रभावी जातियाँ हैं: उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, दिल्ली, पंजाब, राजस्थान एवं हरियाणा में चमार/जाटव/दुसाध/रैगड़; पश्चिम बंगाल में नमो शूद्र; महाराष्ट्र में महार; आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक एवं तमिलनाडु में माला आदि।
24. ईवी चिन्नहाई बनाम आंध्र प्रदेश राज्य (2005) 1 एससीसी 394
25. ओपी शुक्ल बनाम भारत संघ एवं अन्य, डब्ल्यूपी (सिविल) नं.1348 ऑफ 2019
26. डॉ. ओ. पी. शुक्ल; *इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन ऐंड सोशल जस्टिस*, राम बहादुर राय, डॉ. महेश शर्मा (सं.); *रीविजिटिंग आवर कॉन्स्टीट्यूशन*, 2019, पृ. 118
27. संसद में ड). अंबेडकर का भाषण, 26 जनवरी 1950
28. सत्य नारायण (संकलन-संपादन), उपेंद्र बक्सी (भूमिका), *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ एसपी साठे ऐंड कॉन्स्टीट्यूशनलिज्म*, 2015, खंड -1, पृ. 54, नई दिल्ली
29. चमपकम दोरजराजन, एआईआर 1951 एससी 226
30. भीमसिंहजी बनाम भारत संघ, 1981 1 एससीसी 166
31. एनएम थॉमस बनाम केरल राज्य एआईआर 1976 एससे 490
32. फ्रांसिस कोराली मुलिन बनाम दिल्ली संघ शासित क्षेत्र का प्रशासन (1981) एआईआर एससीसी 608
33. अधिकृत अधिकारी तंजावुर बनाम एस. नागनाथ अय्यर, एआईआर 1079 एससी 1487
34. एबीएसके संघ (रेलवे) बनाम भारत संघ (1981) 1 एससीसी 246 पृ. 309, पैरा 123
35. सत्य नारायण (संकलन-संपादन), उपेंद्र बक्सी (भूमिका), *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ एसपी साठे ऐंड कॉन्स्टीट्यूशनलिज्म*, 2015, खंड -1, पृ. 54, नई दिल्ली
36. अजा एवं अजजा की सूची में संशोधन के विषय पर सलाह के लिए केंद्र सरकार ने भारत सरकार के विधि सचिव बीएन लोकुर की अध्यक्षता में एक उच्चाधिकार समिति गठित की। समिति ने अपने प्रतिवेदन में 1965 में कुछ प्रभावी और उन्नत जातियों एवं जनजातियों (निहित स्वार्थी वर्ग) को आरक्षण नीति के दायरे से ही बाहर करने की सिफारिश की। समिति ने इस बात की सिफारिश की कि समय-समय पर इस सूची की समीक्षा की जाए ताकि इसके विभिन्न लाभार्थी वर्गों को समान रूप से इसका लाभ पहुँचाया जा सके।
37. दुर्गा दास बसु, *शॉर्टर कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया*, 2021 खंड 1, नई दिल्ली, पृ. 1
38. गौतम भाटिया, पृ. Xxxiii। कॉन्स्टीट्युएंट असेंबली डिबेट्स, खंड सातवाँ, 15 नवंबर 1948 (डॉ. अंबेडकर)। मसौदा संविधान के तीसरे पाठ के दौरान संविधान सभा के कई सदस्यों ने इस बिंदु पर जोर दिया।
39. गौतम भाटिया, पृ. Xxxiii
40. संविधान के आरंभिक शब्द 'वी द पीपल ऑफ इंडिया' (हम भारत के लोग) और किन लोगों के लिए यह संविधान है, इसकी व्याख्या के लिए विद्वान वरिष्ठ वकील फली नरीमन ने अपनी कृति *हैव वी फॉरगॉटेन द कॉमन मैन* के अध्याय चार में 'कॉमन मैन' (आम आदमी) शब्द का प्रयोग किया है। पूरा विमर्श जानने के लिए देखें, फली एस नरीमन; 'द स्टेट ऑफ फ नेशन, इन द कंटेक्स्ट ऑफ द इंडिया'ज कॉन्स्टीट्यूशन' नई दिल्ली (2017), पृ. 247। नई दिल्ली, (2017), पृ. 244
41. डॉ. ओ. पी. शुक्ल; *इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन ऐंड सोशल जस्टिस*, राम बहादुर राय, डॉ. महेश शर्मा (सं.); *रीविजिटिंग आवर कॉन्स्टीट्यूशन*, 2019, पृ. 118
42. डॉ. ओ. पी. शुक्ल; *इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन ऐंड सोशल जस्टिस*, राम बहादुर राय, डॉ. महेश शर्मा (सं.); *रीविजिटिंग आवर कॉन्स्टीट्यूशन*, 2019, पृ. 118
43. डॉ. ओ. पी. शुक्ल; *इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन ऐंड सोशल जस्टिस*, राम बहादुर राय, डॉ. महेश शर्मा (सं.); *रीविजिटिंग आवर कॉन्स्टीट्यूशन*, 2019, पृ. 118
44. पाँचवें और छठवें वेतन आयोग की रिपोर्ट, वित्त मंत्रालय, व्यय विभाग, भारत सरकार, 1997 एवं 2004
45. एनएम थॉमस बनाम केरल राज्य एआईआर 1976 एससे 490
46. दुर्गा दास बसु, *शॉर्टर कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया*, 2021 खंड 1, नई दिल्ली, पृ. 805
47. सीवर/सेप्टिक टैंक आदि की सफाई करते हुए 29-30 मार्च 2022 को केवल दो दिनों में ही 16 सफाई कर्मचारियों - 7 दिल्ली, 5 उत्तर प्रदेश और 4 राजस्थान - की मृत्यु हो गई। अन्य राज्यों से कोई रिपोर्ट नहीं है। देखें *टाइम्स ऑफ इंडिया*, 31.3.2022, पृ. 8
48. एस आनंद, *लाइफ इनसाइड अ ब्लैक होल*, तहलका, 8 दिसंबर, 2007, पृ. 16
49. द *टाइम्स ऑफ इंडिया*, दिसंबर 8, 2021
50. द *इंडियन एक्सप्रेस*, गुरुवार, मई 31, 2018, पृ. 6
51. द *इंडियन एक्सप्रेस*, की रिपोर्ट, 21 सितंबर 2020, साथ में देखें - शिवानी गुप्ता, *गाँव कनेक्शन*, रिपोर्ट, फरवरी 9, 2022
52. भाषा सिंह, अनसीन, द *ट्रुथ अबाउट इंडिया'ज मैनुअल स्केवेंजर्स*, नई दिल्ली, 2014, पृ. I
53. वही
54. वही, पृ. पप
55. फली एस नरीमन; द *स्टेट ऑफ* द *नेशन, इन* द *कंटेक्स्ट ऑफ* द *इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन*; नई दिल्ली, (2017), पृ. 257
56. वही
57. वही
58. भाषा सिंह, अनसीन, द *ट्रुथ अबाउट इंडिया 'ज मैनुअल स्केवेंजर्स*, नई दिल्ली, 2014
59. नेशनल कमीशन फॉर सफाई कर्मचारीज, सामाजिक न्याय एवं सशक्तीकरण मंत्रालय, भारत सरकार, रिपोर्ट 2017-18, पृ. 7
60. बी.एन. लोकुर, एडवाइजरी कमेटी ऑन द रिवीजन ऑफ द लिस्ट ऑफ शेड्यूल्ड कास्ट्स ऐंड शेड्यूल्ड ट्राइब्स, भारत सरकार, सामाजिक सुरक्षा विभाग, रिपोर्ट, 1965
61. फली एस नरीमन; द *स्टेट ऑफ* द *नेशन, इन* द *कंटेक्स्ट ऑफ* द *इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन*; नई दिल्ली, (2017), पृ. 244

डॉ. राजेश कोटेचा वैद्य

पोषक आहार एवं जीवन स्तर

देश में आमजन का पोषण स्तर बढ़ाने के लिए भारत सरकार की ओर से अब तक कई तरह के कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जा चुका है। इस प्रकार की योजनाओं के साथ-साथ संभावनाओं पर भी एक दृष्टि

"*वसुधैव कुटुम्बकम्*" एक प्राचीन भारतीय श्रुति है, जिसका अर्थ है - "विश्व एक परिवार है", जो आर्थिक विकास सहित जीवन के सभी पहलुओं के प्रति भारत के दृष्टिकोण का संक्षिप्त सार है। इस प्रकार शाश्वत विकास लक्ष्यों [Sustainable Development Goals (SDGs], देश की बहुकालीन परंपरा और विरासत का हिस्सा है। एसडीजी 2 के उद्देश्य,भुखमरी का अंत, खाद्य सुरक्षा और बेहतर पोषण की उपलब्धि तथा निरंतर कृषि को बढ़ावा देना है, जबकि एसडीजी 3 सभी उम्र में सभी व्यक्तियों के स्वस्थ जीवन को सुनिश्चित करने और स्वास्थ्य को बढ़ावा देने पर जोर देता है। सभी मोर्चों पर देश के वांछनीय विकास के लिए, यह सुनिश्चित करना सर्वोपरि है कि उस देश की जनसंख्या के पोषण स्वास्थ्य का ध्यान रखा जाए।

पोषण-महत्वपूर्ण घटक

व्यक्ति और सामुदायिक स्वास्थ्य का एक महत्वपूर्ण घटक पोषण है क्योंकि जनसंख्या के पोषण को एक आर्थिक संपत्ति और राष्ट्र विकास के एक महत्वपूर्ण संकेतक के रूप में माना जाता है। पोषण को सार्वजनिक और विश्व स्तर पर उत्तरोत्तर उन्नति का एक महत्वपूर्ण प्रतीक माना जा रहा है। पोषण सदैव मानवता की एक अनिवार्य आवश्यकता रही है।[1] उचित और संतुलित पोषण कई रोगों और उनसे जुड़े जोखिम कारकों के बोझ को कम करने के सबसे प्रभावी और कम खर्चीले तरीकों में से एक है। शारीरिक कमी या हार्मोनल असंतुलन से बचाव के लिए, सभी पोषक तत्वों से भरपूर संतुलित आहार लेना महत्वपूर्ण है। आपके लिए अपनी रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने तथा रोगों से लड़ने के लिए समर्थ बनाने के लिए भी पोषण जरूरी है।

आहार, जीवन का एक स्तंभ

आहार (भोजन) जीवन के निर्वाह के लिए सबसे महत्वपूर्ण कारक है। इसे आयुर्वेद में जीवन के तीन स्तंभों (त्रयोपस्तंभ अर्थात आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य) में सबसे प्रमुख स्तंभ के रूप में वर्णित किया गया है। जब शरीर त्रयोपस्तंभ द्वारा समर्थित होता है, तो यह विकास, शक्ति और वर्ण से संपन्न होता है।

आयुर्वेद के अनुसार ब्रह्मांड, पंचमहाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी जैसे पाँच मूल तत्व) से बना है। तदनुसार, आहार को आकाशीय, वायव्य, आग्नेय, आप्य और पार्थिव भी कहा जाता है, जो उचित अनुपात में सेवन करने पर, देह धातु (शरीर के ऊतकों), वृद्धि, विकास और ओज की वृद्धि को पोषण प्रदान करने में सहायता करता है। आहार को महाभैषज्य (श्रेष्ठ औषधि) माना गया है। विभिन्न जीवनशैली विकार और कई रोग दोषपूर्ण आहार आदतों के कारण होते हैं जिन्हें उचित आहार और भोजन संबंधी नियमों के पालन से रोका जा सकता है।[2]

आयुर्वेद इस बात पर जोर देता है कि आहार को व्यक्ति की प्रकृति या संरचना के अनुसार चुना जाना चाहिए। आयुर्वेद के अनुसार हितकर/पथ्य भोजन (स्वास्थ्यवर्धक भोजन) अच्छे स्वास्थ्य, दीर्घायु, शक्ति, बुद्धि, अच्छी आवाज और वर्ण को बनाए रखने के लिए अनुकूल है। रोगमुक्त जीवन के लिए, आयुर्वेद उचित भोजन विकल्पों, भोजन संयोजन और भोजन पकाने के तरीकों, सही मात्रा में भोजन के सेवन के माध्यम से उचित पोषण के महत्व पर जोर देता है, जो समय पर पचने के साथ-साथ चयापचय भी हो जाता है। भोजन ग्रहण करने का समय, ऋतु और स्थान

भी महत्वपूर्ण है। अहितकर आहार (अस्वच्छ भोजन) से परहेज करने की सलाह दी जाती है।[3]

आयुर्वेद के माध्यम से समग्र पोषण

इस चिकित्सा विज्ञान का अंतिम उद्देश्य स्वास्थ्य का संरक्षण है और इसे दो तरह से प्राप्त किया जा सकता है, अर्थात रोगों को रोकने के लिए जीवनशैली संबंधी परामर्शों का पालन करना और पहले से पीड़ित रोगों का उन्मूलन। रोगों की रोकथाम के लिए पूर्वापेक्षाओं में स्वस्थ आहार, पर्यावरण का संरक्षण, अनुकूल सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण शामिल हैं।[4] आयुर्वेद समग्र पोषण सुनिश्चित करने पर बहुत जोर देता है। व्यक्ति विशेष की शारीरिक संरचना, शारीरिक आवश्यकता तथा ऋतु अनुकूल स्थानीय रूप से उपलब्ध खाद्य पदार्थों और जड़ी-बूटियों पर आधारित एक पौष्टिक आहार आवश्यक है।[5] आयुर्वेद का पोषण और आहार के प्रति एक अनूठा और समग्र दृष्टिकोण है। आयुर्वेद आहार विज्ञान और पोषण के विविध पहलुओं जैसे गुणवत्ता, मात्रा, प्रसंस्करण के तरीके, खाद्य पदार्थों के संयोजन का औचित्य, भावनात्मक पहलू, उपभोक्ता की प्रकृति, भौगोलिक और पर्यावरणीय स्थिति आदि पर ध्यान केंद्रित करता है।[6] जैविक अग्नि (अग्नि) आयुर्वेद की एक प्रमुख सिद्धांत इकाई है जिस पर पाचन, चयापचय, प्रतिरक्षा और वास्तव में जीवन शक्ति की पूरी प्रक्रिया निर्भर करती है। स्वास्थ्य को बढ़ावा देने वाली व्यवस्था (पथ्य व्यवस्था[7]) आयुर्वेदिक चिकित्सा विज्ञान की एक प्रमुख मुख्य विशेषता है। होमियोस्टैटिक बायो-मेकैनिज्म (धातु-साम्यता) और स्वास्थ्य को सुविधाजनक बनाने के लिए औषधियों और उपचारों के साथ-साथ व्यक्तियों के लिए विशिष्ट आहार और जीवन शैली दिशानिर्देश निर्धारित किए जाते हैं।

वर्तमान समय में पोषण विज्ञान, अध्ययन के एक विस्तृत और संगठित विषय के रूप में विकसित हुआ है और समकालीन परिप्रेक्ष्य आहार के सकल घटकों जैसे कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन, खनिज, पानी आदि पर विचार करता है, जबकि आयुर्वेद उचित भोजन, भोजन के संयोजन, खाना पकाने के तरीके, भंडारण, खाने का माहौल, स्वच्छता और शिष्टाचार के संदर्भ में (अष्ट आहार विधि विशेषायतन[8]) बुनियादी आहार दिशा-निर्देशों पर जोर देता है। जो स्वास्थ्य के संरक्षण और संवर्धन और बीमारी की रोकथाम में महत्वपूर्ण हैं। विभिन्न शास्त्रीय आयुर्वेद ग्रंथ (भोजन कुतुहल, निघंटु रत्नाकर) में प्राकृतिक स्रोतों की विविधता, व्यंजनों, ऋतुओं और स्थानों के संबंध में गुण, खाद्य सुरक्षा और उसी के लिए उपाय और उनके स्वास्थ्य लाभ से लेकर भोजन पर विषयों की एक शृंखला शामिल है। यह कुछ विशिष्ट वैचारिक और सैद्धांतिक स्थितियों के आधार पर भोजन और स्वास्थ्य के बारे में व्यापक अंतर्दृष्टि प्रदान करता है।

मानव शरीर को पोषक तत्वों की आपूर्ति, न केवल भोजन में शामिल पोषक तत्वों की मात्रा पर बल्कि इसकी जैव उपलब्धता पर भी निर्भर करती है।[9] अतः प्रभावी उपचार और आहार संबंधी दिशा-निर्देशों

साभार : https://www.unicef.org/india/

के लिए, पोषण-संवेदनशील नीतियों और पोषण संबंधी उपचारों को डिजाइन करते समय, खाद्य पदार्थों के पोषक तत्वों के साथ पोषक तत्वों की जैव-उपलब्धता पर विचार करना आवश्यक है। उचित चयापचय अच्छे स्वास्थ्य की कुंजी है। आयुर्वेद के अनुसार अग्नि हमारे शरीर में पाचन और चयापचय का एक प्रमुख घटक है। भोजन को पचाना, अवशोषित करना और आत्मसात करना चाहिए, जो जीवन के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है और अग्नि द्वारा किया जाता है। आयुर्वेद में 'अग्नि' शब्द का प्रयोग भोजन और चयापचय उत्पादों के पाचन के लिए किया जाता है। अग्नि भोजन को ऊर्जा में परिवर्तित करता है, जो हमारे शरीर के सभी महत्वपूर्ण कार्यों के लिए जिम्मेदार है। आयुर्वेद के अनुसार, देहाग्नि - जीवन, वर्ण, बल/शक्ति, स्वास्थ्य, पोषण, चमक (प्रभा), ओज, उत्साह (ऊर्जा), और प्राण (जीवन ऊर्जा) (च.चि.15/3)[10] का स्रोत है। शरीर के सभी परमाणु में अपनी उपस्थिति के कारण अग्नि असंख्य है। हालाँकि, विभिन्न शास्त्रीय आयुर्वेदिक ग्रंथों में अग्नि की संख्या अलग-अलग बताई गई है। अग्नि को उसके कार्यों और क्रिया के स्थान के आधार पर 13 प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है, जिसमें से एक जठराग्नि, पाँच भूताग्नि और सात धात्वग्नि हैं। सबसे महत्वपूर्ण जठराग्नि है, जो चार अलग-अलग प्रकार के भोजन को पचाती है और उन्हें रस और मल में परिवर्तित करती है। पाँच भूताग्नि भोजन के भौतिक भाग पर कार्य करती हैं, शरीर में आकाश, वायु, आदि महाभूतात्मक तत्वों का पोषण करती हैं। सात धात्वग्नि संबंधित धातुओं पर कार्य करते हैं और परिणामस्वरूप, संपूर्ण परिवर्तन प्रक्रिया में दो प्रकार के उत्पाद होते हैं - प्रसाद (सार) और किट्ट (अवशिष्ट)।[11] पोषक तत्वों की जैव उपलब्धता में सुधार के अलावा, आयुष दवाओं में विभिन्न चिकित्सीय भी होते हैं। गतिविधियाँ जो प्राप्तकर्ताओं के लिए एक अतिरिक्त लाभ हो सकती हैं।

भारत सरकार द्वारा नीतिगत पहल

वैश्वीकरण के इस युग में, प्रसंस्करित खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि, तीव्र शहरीकरण और बदलती जीवन शैली ने आहार पद्धति में

वैश्वीकरण के इस युग में, प्रसंस्करित खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि, तीव्र शहरीकरण और बदलती जीवन शैली ने आहार पद्धति में बदलाव किया है। आधुनिक खाद्य प्रणालियों के परिणामस्वरूप पारंपरिक और स्थानीय पोषक तत्वों से भरपूर खाद्य पदार्थों के विषय में जानकारी और उपयोग में कमी आई है और औद्योगिक तथा प्रसंस्करित खाद्य उत्पादों की खपत में वृद्धि हुई है, जिससे विभिन्न पोषण संबंधी समस्याएँ पैदा हुई हैं

बदलाव किया है। आधुनिक खाद्य प्रणालियों के परिणामस्वरूप पारंपरिक और स्थानीय पोषक तत्वों से भरपूर खाद्य पदार्थों के विषय में जानकारी और उपयोग में कमी आई है और औद्योगिक तथा प्रसंस्करित खाद्य उत्पादों की खपत में वृद्धि हुई है, जिससे विभिन्न पोषण संबंधी समस्याएँ पैदा हुई हैं।

राष्ट्रीय स्तर

भारतीय जनसंख्या के पोषण स्तर को बढ़ाने के उद्देश्य से,भारत ने पिछले पचास वर्षों में राष्ट्रीय पोषण कार्यक्रम 1993,राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम 2013,एकीकृत बाल विकास योजना (आईसीडीएस), मिड डे मील योजना, पोषण अभियान 2018 इत्यादि सहित अनेक पोषण उपायों को क्रियान्वित किया है। सभी स्तरों पर शासन के उच्च मानकों के माध्यम से ही सतत विकास लक्ष्य (एसडीजी) की पूर्ति जा सकती है। इस संबंध में, भारत विशेष रूप से भाग्यशाली है कि उसके पास केंद्र और राज्यों में अत्यधिक प्रतिबद्ध सरकारें हैं। मार्च 2018 में माननीय प्रधानमंत्री जी द्वारा शुरू किया गया पोषण अभियान एक अभिसरण मंच प्रदान करता है, जहाँ विभिन्न मंत्रालय और विभाग पोषण परिणामों को पूरा करने के समान लक्ष्य पर तथा जनसंख्या की पोषण स्थिति को प्रभावी ढंग से सुधारने संबंधी सभी उपायों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने के लिए एक साथ कार्य करते हैं।

औषध एवं प्रसाधन अधिनियम,1940 में बल्य, बृंहण, पोषक श्रेणी के अंतर्गत विभिन्न जड़ी-बूटियों/औषध योगों की व्याख्या की गई है। ये आयुष खाद्य उत्पाद जैसे- रंभफल रसायनम, विदारिकंद, कुष्मांडावलेह, शिग्रू, कटहल आदि उच्च पोषणयुक्त हैं। उपयुक्त खाद्य प्रौद्योगिकी के उपयोग से, इन खाद्य श्रेणी के आयुष उत्पादों को जनता के बीच प्रचारित किया जा सकता है और सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रम में उपयोग के लिए भी इसकी संभावनाओं का पता लगाया जा सकता है। विभिन्न आयुर्वेदिक जड़ी-बूटी/औषधयोग को मौजूदा टेक होम राशन में सहायक के रूप में शामिल किया जा सकता है

राज्य स्तर

- ♦ राज्य सरकारें व्यापार, खाद्य और कृषि नीतियों सहित नीतियों और निवेश योजनाओं में सामंजस्य बनाकर अपनी जनसंख्या की पोषण स्थिति में सुधार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं।
- ♦ राज्य प्राथमिक -विद्यालयों, विद्यालयों और अन्य सार्वजनिक संस्थानों में स्वस्थ, पौष्टिक, सुरक्षित और किफायती खाद्य पदार्थों की उपलब्धता सुनिश्चित करके स्वस्थ आहार प्रथाओं को बढ़ावा देने के लिए आयुष आहार मानकों की स्थापना कर सकते हैं।
- ♦ राज्य सरकार निम्नलिखित के माध्यम से स्वस्थ खाद्य पदार्थों और भोजन के लिए उपभोक्ता माँग को प्रोत्साहित कर सकती हैं :-
- ♦ आयुष सिद्धांत पर आधारित पारंपरिक स्वस्थ आहार के बारे में उपभोक्ता जागरूकता को बढ़ावा देना।
- ♦ ऐसी स्कूली नीतियों और कार्यक्रमों का विकास करना जो छात्रों को स्वस्थ आहार अपनाने और स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए प्रोत्साहित करें।
- ♦ बच्चों,किशोरों और वयस्कों को पोषण और स्वस्थ आहार प्रथाओं के विषय में शिक्षित करना।
- ♦ स्कूलों के माध्यम से बच्चों में पाक

कौशल को प्रोत्साहित करना।

- प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल सुविधाओं पर आयुष आधारित पोषण और आहार परामर्श प्रदान करना।

पोषण की स्थिति में सुधार के लिए अभिसरण मंचों पर आयुष की भूमिका

पोषण अभियान की शुरुआत सेही आयुष मंत्रालय, महिला एवं बाल विकास मंत्रालय का सहयोगी मंत्रालय है। मंत्रालय अपने अधीन राज्य आयुष विभागों और राष्ट्रीय संस्थानों/अनुसंधान परिषदों की मदद से पोषण अभियान कार्यक्रम के तहत विभिन्न आईईसी गतिविधियाँ में सक्रिय रूप से भाग लेता है। इसके अतिरिक्त, चल रहे पोषण उपचारों के साथ आयुष पद्धतियों के एकीकरण के माध्यम से कुपोषण के खतरे को नियंत्रित करने हेतु आयुष मंत्रालय और महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने एक साथ मिलकर काम करने के लिए 20.09.2020 को एक समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए हैं। सहयोग के लिए पहचाने गए विशिष्ट क्षेत्रों में :- (1) आयुष का पोषण अभियान में एकीकरण और (2) आयुर्वेद, योग और अन्य आयुष प्रणालियों के सिद्धांतों और प्रथाओं के माध्यम से कुपोषण का नियंत्रण, शामिल हैं। आयुष मंत्रालय आयुष आधारित आहार और जीवनशैली को बढ़ावा दे रहा है और 'सुपोषित भारत' के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पोषण अभियान में महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के साथ मिलकर कार्य कर रहा है। आयुष मंत्रालय पोषण 2.0 में आयुष आधारित पुष्टाहार या 'पोषण पूरक' की शुरुआत के लिए भी काम कर रहा है। राज्यों में सांस्कृतिक और भौगोलिक भिन्नता के कारण, कुपोषण से निपटने के लिए एक विस्तृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

स्वास्थ्य को बढ़ावा देने वाली व्यवस्था आयुष चिकित्सा विज्ञान की पहचान है; होमियोस्टैटिक बायो-मेकैनिज्म और स्वास्थ्य को सुविधाजनक बनाने के लिए औषधियों और उपचारों के साथ-साथ व्यक्तियों के लिए विशिष्ट आहार और जीवन शैली दिशानिर्देश निर्धारित किए जाते हैं। आयुर्वेद और अन्य आयुष प्रणालियाँ विभिन्न आहारों के बारे में विस्तार से बताती हैं

स्वास्थ्य को बढ़ावा देने वाली व्यवस्था आयुष चिकित्सा विज्ञान की पहचान है; होमियोस्टैटिक बायो-मेकैनिज्म (धातु-साम्यता) और स्वास्थ्य को सुविधाजनक बनाने के लिए औषधियों और उपचारों के साथ-साथ व्यक्तियों के लिए विशिष्ट आहार और जीवन शैली दिशानिर्देश निर्धारित किए जाते हैं। आयुर्वेद और अन्य आयुष प्रणालियाँ विभिन्न आहारों के बारे में विस्तार से बताती हैं, जिनमें स्वास्थ्य संवर्धन, बीमारी की रोकथाम के लिए परामर्श की गई प्रतियाँ शामिल हैं और रोग की स्थिति और विभिन्न आयु समूहों जैसी विविध आवश्यकताओं को संबोधित करने वाले रोगों के प्रबंधन के लिए भी निर्धारित हैं। आयुष आधारित पोषण सहायता प्रणाली, समग्र पोषण सुनिश्चित करनेमें आयुर्वेद के लाभ बताती है और एनीमिया से लड़ने, प्रतिरक्षा में सुधार, जीवनशैली संबंधी विकारों तथा कुपोषण के उपचार के लिए आयुष प्रणाली की अनुशंसा करती है। पोषण के पूरक के लिए और परंपरा आधारित आयुष खाद्य व्यंजनों के बारे में समुदाय में जागरूकता पैदा करने के लिएआयुष हस्तक्षेप की बहुत व्यापकता है, जो न केवल रोगों से मुक्त होने में सहायता करते हैं बल्कि कई रोग स्थितियों की रोकथाम में भी सहायता करते हैं। भारत के पोषण कार्यक्रम में आयुष आहार सिद्धांतों, उत्पादों और प्रथाओं को शामिल करने से निश्चित रूप से जनसंख्या की पोषण स्थिति को बेहतर करने, स्वास्थ्य संवर्धन और विभिन्न पोषण की कमी से होने वाले रोगों और आहार से संबंधित गैर-संक्रामक रोगों की रोकथाम में सहायता मिलेगी।

संदर्भ

1. *आयुष डाइटरी एडवाइजरी फॉर कुपोषणमुक्त भारत*, आयुष मंत्रालय, भारत सरकार
2. *रोल ऑफ आहार इन प्रमोशन ऑअ हेल्थ,* डॉ. ललिता शर्मा, सीसीआरएएस, आयुष मंत्रालय
3. *रोल ऑफ आयुर्वेद इन प्रमोटिंग मैटर्नल ऐंड चाइल्ड हेल्थ*, स्मिता बाजपेई, जुलाई 2008, ऐंशिएंट साइंस ऑफ लाइफ 28(1):16-20, सोर्स: पबमेड
4. *आयुर्वेद बेस्ड न्यूट्रिशन काउंसिल - अ होलिस्टिक वे ऑफ हेल्थ प्रमोशन*, श्रीकांत नारायणम, बाबू रमेश, दिसंबर 2012
5. आयुर्वेदिक अप्रोच टु पथ्य (आइडियल डाइट प्लानिंग) - ऐन अप्रेजल, सुलोचना भट, जी.एस. लवेकर, पीएमआईडी: 17333670
6. ऐन आयुर्वेदिक रिव्यू ऑन अष्ट आहार विधि विशेष आयतन, नम्रता साहू, विनय भारद्वाज, गीतांजलि ससमल, इंटरनेशनल आयुर्वेदिक मेडिकल जॉर्नल, भारत 2021, आईएसएसएन: 2320-5091
7. बायोअवेलेबिलिटी ऑफ न्यूट्रिएंट्स, हेट्टी शॉनफेल्ट, ब्यूला प्रीटोरियस, निकोलेट हॉल, दिसंबर 2016, DOI:10.1016/B978-0-12-384947-2.00068-4
8. फिजियोलॉजिकल आस्पेक्ट्स ऑफ अग्नि, आकाश कुमार अग्रवाल, सी.आर. यादव एवं एम.एस. मीणा, आयु.2010 जुलाई-सितंबर; 31(3): 395–398, doi: 10.4103/0974-8520.77159, PMC3221079, PMID: 22131747
9. एक्सप्लोरिंग आयुर्वेदिक नॉलेज ऑन फूड ऐंड हेल्थ फॉर प्रोवाइडिंग इनोवेटिव सलूशंस टु कंटेंपरेरी हेल्थकेयर, उन्नीकृष्णन पय्यप्पल्लिमन, पद्म वेन्कटसुब्रमण्यन, फ्रंट पब्लिक हेल्थ. 2016; 4: 57, doi: 10.3389/fpubh.2016.00057, PMCID: PMC4815005, PMID: 27066472
10. आयुष फॉर इम्युनिटी, खंड 1, अंक 4
11. आयुष सिस्टम - अ फोकस ऑन कोर अचीवमेंट्स ऐंड पोटेंशियल एरियाज फॉर इंट्रा-आयुष कोलबोरेशन, सीसीआरएएस, आयुष मंत्रालय

आलोक कुमार

अनुच्छेद 48 पर गहन चिंतन

संविधान के अन्य प्रावधानों की तरह गोवध पर प्रतिबंध का हमारा प्रावधान भी अनेक मतभेदों से घिरा हुआ है। जमीनी यथार्थ के व्यापक परिप्रेक्ष्य के साथ इस संवैधानिक प्रावधान पर आलोचनात्मक दृष्टि

वेद वाणी है, "गावो विश्वस्य मातर:" अर्थात गाय ही संपूर्ण सृष्टि की माता है। संस्कृत वाङ्मय में, वेदों, पुराणों एवं अन्य ग्रंथों में गाय का भरपूर स्तुतिगान हुआ है। 'स्कंद पुराण' का निम्नलिखित श्लोक इसका उदाहरण है-

"वम् माता सर्वदेवानाम्, त्वम् च यज्ञस्य कारणम्।
त्वम् तीर्थ सर्वतीर्थानाम् नमस्तेतु सदानधे।"

अर्थात, *हे पाप नाशिनी। तुम सभी देवों की माता हो। तुम यज्ञों का कारण हो। सभी तीर्थों में तुम सर्वाधिक पवित्र हो। तुम पवित्रतम् हो। मैं तुम्हारी वंदना करता हूँ।*

भारतीय समाज का यह दृढ विश्वास है कि गोमाता में सभी देवताओं का निवास है। उनके पेट में कार्तिकेय, माथे में रूद्र, सींगों में इंद्र, कानों में अश्विनी कुमार, आँखों में सूर्य और चंद्रमा, दाँतों में गरुड़ तथा जिह्वा में सरस्वती का वास है, इत्यादि। यहाँ तक कि गोबर भी पवित्र माना जाता है और उसमें लक्ष्मी का निवास स्वीकार किया जाता है। इसलिए गाय की पूजा और सेवा का अर्थ है सभी देवताओं की पूजा।

हिंदू देवताओं में से सर्वाधिक लोकप्रिय श्रीकृष्ण ग्वालों के गाँव में रहने वाले एक गोरक्षक हैं और चरवाहे के रूप में ही सर्वजनप्रिय, वंदित और निरूपित हैं।" (*सैक्रेड काऊज, सैक्रेड प्लेसेज* में लोड्रिक डी.ओ.)

गो हत्या एक पाप भी है और दंडनीय अपराध भी। *अथर्ववेद* में (1/16/4) कहा है, "यदि तुम हमारी गाय, किसी मनुष्य अथवा घोड़े को मारते हो, तो हमें तुम्हारे शरीर में यह शीशा उतार देंगे ताकि तुम हमारे लोगों की हत्या न कर सको।"

कामधेनु :

देवों और दानवों का अमृत प्राप्ति के लिए एक होकर, समुद्र मंथन का एक प्रसिद्ध पौराणिक इतिहास है। उन्हें सुझाया गया था कि यह अमृत क्षीरसागर को मथकर ही प्राप्त किया जा सकता है। उन्हें इससे आगे यह परामर्श भी दिया गया था कि इस समुद्र मंथन से अनेक बहुमूल्य पदार्थ उपहारस्वरूप प्राप्त होंगे जैसे कि देवियाँ, वृक्ष, हाथी, विष और कामधेनु परंतु इन्हे प्राप्त करते ही शीघ्र किसी सुपात्र व्यक्ति को दान उपहारस्वरूप देना होगा और यह सब करते हुए समुद्र मंथन जारी रखना होगा, तभी अमृत मिलेगा।

बहुत ऊँची चोटी वाले मेरू पर्वत ने इसके लिए मथानी बनाना स्वीकार किया। शेषनाग उस मथानी के रस्सी बने। देवताओं ने इस रस्सी का एक छोर पकड़ा और राक्षसों ने दूसरा। सर्वप्रथम समुद्र से कालकूट विष निकला जिससे मानवता नष्ट हो सकती थी। पृथ्वी की रक्षा के लिए भगवान शिव ने उसे पीकर अपने कंठ में स्थिर कर लिया।

इस मंथन की बहुमूल्य वस्तुओं में से एक थी कामधेनु, सभी गायों की माता कामधेनु, भक्तों की सभी उचित इच्छाओं की पूर्ति करती है। कामधेनु ऋषि वशिष्ठ को दे दी गई।

गाय, माता है, बैल, भगवान शिव की सवारी, नंदी है और हिंदू दोनों' की पूजा वैदिक काल से करते आए हैं।

मुस्लिम शासन

अटल जी के शासनकाल में पशु के लिए राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया गया था। इस आयोग ने गोरक्षा के विषय का गहन अध्ययन कर अपनी

विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की थी जिसे 'लोढ़ा आयोग रिपोर्ट' कहा जाता है। अवकाश प्राप्त न्यायमूर्ति गुमान मल लोढ़ा, जो बाद में इस आयोग के कार्यकारी अध्यक्ष भी बनाए गए, ने इस रिपोर्ट की विस्तृत भूमिका लिखी थी।

श्री लोढ़ा जी ने लिखा है, "भारत में गोहत्या का प्रारंभ लगभग 1000 वर्ष पूर्व इस्लामिक आततायियों के आक्रमण के साथ ही हुआ जो कि तुर्की, ईरान (पर्शिया), अरब, अफगानिस्तान तथा अन्य मुस्लिम देशों से आए थे। इस्लामिक रीति-रिवाजों के अनुसार वे कुछ अवसरों पर भेड़-बकरियों की बलि देते थे। कुछ विशेष अवसरों पर वे ऊँटों की बलि भी देते थे। परंतु मुस्लिम शासक जो मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया से आए थे, गोमांस भक्षक नहीं थे क्योंकि उन दिनों अरब देशों में गाएँ होती ही नहीं थीं। जब मुस्लिम आततायी भारत आए तो उन्होंने बकरीद आदि के अवसर पर गो बलि देनी प्रारंभ कर दी। यह काम वे भोजन की जरूरतों के लिए न करके इस देश के वासियों को अपमानित करने और उन पर अपने आधिपत्य और वर्चस्व को स्थापित करने के लिए करते थे। इस प्रथा से यहाँ के निवासी हिंदुओं में असंतोष फैला जो कि शासकों के इस कृत्य से अपने को अपमानित और आहत महसूस करते थे।" (प्रस्तावना का पैरा 25)

जैसा कि कहा गया है, हिंदुओं में गाय माँ की तरह पूजी जाती थी। यह विषय मुस्लिम आक्रांताओं और हिंदुओं के मध्य संघर्ष-बिंदु बन गया। गोवध के प्रबल प्रतिरोध का व्यापक प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप बाबर, जहाँगीर, अकबर, मुहम्मद शाह और शाह आलम जैसे शासकों को भी अपने राज्य में गोवध पर रोक लगानी पड़ी।

लोढ़ा समिति की रिपोर्ट पर संसद में बहस हुई। 18 मई, 1990 को रिपोर्ट पर चर्चा में भाग लेते हुए गुमान मल लोढ़ा ने कहा, "यहाँ तक कि मुहम्मद साहब ने भी गाय के दूध को स्वास्थ्य के लिए अच्छा माना था। उनके अनुसार गाय के दूध का घी औषध है और गोमांस रोग है," श्री लोढ़ा ने गांधी को उधृत करते हुए कहा 'मनुष्य की हत्या और और गाय की हत्या में कोई अंतर नहीं। यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।"

ब्रिटिश शासन और स्वतंत्रता संग्राम : प्रस्तावना के पैरा 27-28 में उन्होंने लिखा है :- परंतु 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में अंग्रेजों के भारत में आगमन के पश्चात, एक नई स्थिति का निर्माण हुआ क्योंकि यूरोप से आने वाले लोग गोमांस भक्षण करते थे। एन० जी० चेरनीशेव्स्की (अंग्रेजी संस्करण, विन्टेज (961) अपने उपन्यास '*व्हाट इज टु बी डन*' में कहते हैं कि रूसी लोगों का विश्वास है कि गोमांस के सेवन से मनुष्य में शक्ति और स्थायी ऊर्जा का संचार होता है। लगभग 2000 वर्ष से यूरोप, गोमांस का सबसे बड़ा उपभोक्ता है। स्वाभाविक रूप से भारत में यूरोपीय विशेषकर ब्रिटिश जब 19 शताब्दी के प्रारंभ से भारत के विभिन्न भागों में बसने लगे तबसे गोहत्या में वृद्धि हुई। प्रारंभ में मारी जाने वाली गायों की संख्या कम थी। इसलिए इस ओर ध्यान नहीं गया। परंतु 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में पश्चिमी शैली की गोवधशालाएँ भारत के विभिन्न भागों में तीन ब्रिटिश फौजों (बंगाल, मद्रास, और बंबई) की कमिसरिएट (रसद विभाग) द्वारा स्थापित की जाने लगीं। इन गो हत्याओं के लिए बड़ी संख्या में कसाइयों की खोज हुई। चूँकि हिंदुओं ने इस कार्य को करने से इन्कार कर दिया इसलिए धर्मांतरित भारतीय, ईसाइयों और मुस्लिम कसाइयों की सेवाएँ ली गई। "हरियाणा के लाला हरदेव सहाय के एक साधारण आकलन के अनुसार (जीवनी - 1995, पृ.105) मुस्लिम शासनकाल में मारी जाने वाली गायों की संख्या 20,000 से अधिक नहीं थी, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने 1917 में मुजफ्फरनगर में एक भाषण में कहा था कि भारत में प्रतिदिन 30,000 गायों की हत्या होती है। (एक करोड़, दस लाख प्रति वर्ष)। (*सी. एम. एम. जी०* 14, पृ० 80)।

गाय और सुअर के मांस की समस्या के कारण 1857 में अंग्रेजों के विरुद्ध प्रथम स्वाधीनता संग्राम प्रारंभ हुआ। 1853 में अंग्रेजों ने सिपाहियों को एक नई राइफल दी थी। इस राइफल में बारूद भरने के लिए गोली के ढक्कन को दाँत से काटना पड़ता था। सिपाहियों की यह आम धारणा थी कि जो कारतूस राइफलों में चलाने के लिए सामान्य रूप से दिए जाते थे, उनमें गाय और सुअर की चर्बी लगी रहती थी जिससे दोनों समुदायों में रोष व्याप्त हुआ और वे अंग्रेजों को भारत से भगाने के लिए मिलकर लड़े। .. '*हिंद स्वराज*' में गांधी जी ने गोरक्षा

साभार: https://www.oneindia.com/india/law-on-anti-cow-slaughter-in-karnataka-to-be-delayed-3187957.html

के विषय में कहा है, "जिस तरह मैं गाय का सम्मान करता हूँ वैसे ही मैं अपने जैसे मनुष्यों का भी करता हूँ। एक गाय के समान ही मनुष्य भी उपयोगी होता है, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान। तो फिर क्या मैं एक गाय की रक्षा के लिए किसी मुसलमान की हत्या करूँगा? इसलिए गोरक्षा का एकमात्र उपाय जो मुझे पता है, उसके अनुसार मैं अपने भाई मुसलमान से प्रार्थना करूँगा कि देशहित में वह गाय की रक्षा में मेरा साथ दे। यदि वह मेरी बात नहीं मानता तो फिर मैं गाय को जाने दूंगा, यह मानकर कि वह मेरे वश में नहीं है। मैं गाय की रक्षा के लिए अपने प्राण दे सकता हूँ परंतु अपने किसी भाई के प्राण नहीं ले सकता। मैं मानता हूँ कि यही धार्मिक नियम है।"

गोरक्षा का प्रश्न लगातार भारतीय स्वाधीनता संग्राम के केंद्र में रहा है। महात्मा गाँधी आगे कहते हैं, "मैं भारत में ऐसा स्वराज नहीं चाहता जहाँ गोवध होता हो।" दिसंबर 1927 में गाँधी जी ने कहा, "जहाँ तक मेरा प्रश्न है स्वराज पाने की शर्त पर भी क्या गोरक्षा के सिद्धांत को छोड़ सकता हूँ?

संविधान सभा में बहस :

संविधान के अनुच्छेद 48 के अनुसार सरकार, कृषि और पशुपालन को आधुनिक, वैज्ञानिक आधार पर संगठित करने का प्रयत्न करेगी, विशेष रूप से पशुओं की नस्ल सुधारने. और गायों एवं बछड़ों तथा अन्य दुधारू पशुओं और भारवाही पशुओं की हत्या रोकने का प्रयास करेगी।

यह बात तुरंत ध्यान में आती है कि गोवध का निषेध इस अनुच्छेद की पाद टिप्पणी के रूप में ही है। साथ ही इस अनुच्छेद को मौलिक अधिकारों का अंग बनाने की अपेक्षा राजकीय नीति के निदेशक तत्वों में रखा गया है जिनका पालन किया जाना आवश्यक नहीं है।

गोवध पर रोक लगाने के आंदोलन को संविधान की राज्य-अधिकार विषयक दूसरी अनुसूची में डालकर और भी कमजोर किया गया। अब यह राज्यों पर निर्भर करता है कि वे गोवध विषयक कानून बनाते हैं अथवा नहीं।

संविधान सभा की बहस में फ्रैंक एंथनी ने इस विषय में टालमटोल करने और क्षमाप्रार्थी जैसी मुद्रा अपनाने के लिए संविधान सभा की भर्त्सना करते हुए कहा था :-

फ्रैंक एंथनी : राजकीय नीति के निदेशक तत्वों के संदर्भ में मैं गोवध निषेध विषयक प्रावधानों की चर्चा करुंगा। मैं जानता हूँ कि मैं यहाँ भी कठिन रास्ते पर पाँव रख रहा हूँ। परंतु मैं अपना पक्ष स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। इस निदेशक तत्व को लेकर मेरी नाराजगी इस बात पर है कि किस प्रकार कपटपूर्ण ढंग से गोवध निषेध विषयक प्रावधान इसके अंतर्गत लिया गया है। यह प्रावधान पहले इसमें नहीं था। मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि वे कट्टरपंथी और चरमपंथी, जो सीधे रास्ते से इसे संविधान में न ला सके, वे इसे चोर दरवाजे से इसके भीतर ले आए। श्रीमान जी, मैं गोमांस नहीं खाता, मैं गोमांस खाने वालों की वकालत नहीं कर रहा हूँ। मैं कहता हूँ, आप गोवध पर प्रतिबंध लगाएँ परंतु यह ईमानदारी के साथ बिना किसी चालाकी के करें। बिना ऐसे उपायों का सहारा लिए करें जिससे इस पर छल का आरोप न लगे। मैं अपने हिंदू भाइयों से पूछता हूँ कि क्या गोवध से आपकी धार्मिक भावनाएँ आहत होती हैं?

श्री के हनुमंतैया (मैसूर राज्य): हाँ, होती है।

फ्रैंक एंथनी : ठीक है। मुझे प्रसन्नता है कि आपने यह स्वीकार किया है। यदि आपने यह कहा होता तो मैं ऐसे प्रावधान को प्रस्तावित करता कि गोवध-निषेध को मूलभूत अधिकारों की श्रेणी में रखा जाए। परंतु आपके लोग ऐसा करने को तैयार नहीं थे। इस प्रावधान को परोक्ष रूप ही क्यों लाया जाए? यदि इससे आपकी धार्मिक भावनाएँ आहत होती हैं, तो जैसे मैं चाहता हूँ कि आप मेरी धार्मिक भावनाओं का सम्मान करें वैसे ही मैं आपकी भावनाओं का सम्मान करने के लिए तैयार हूँ। जैसा कि मैंने कहा है कि इस प्रावधान को इस प्रकार से परोक्ष रूप से निदेशक तत्वों के अंतर्गत क्यों लाया जाए? आप देखिए कि आप किस प्रकार से इसे लाए हैं। संविधान सभा में हुई बहस से उपर्युक्त बात को समझा जा सकता है।

संविधान सभा में हुई चर्चा से स्पष्ट है कि प्रारंभिक दौर में गोवध निषेध का प्रावधान मूलभूत अधिकारों की श्रेणी में लाए जाने की जोरदार वकालत की गई थी। यह बात ठाकुर दास भार्गव, सेठ गोविंद दास और प्रोफेसर शिब्बन लाल सक्सेना के कथनों में नीचे दिए उद्धरणों से स्पष्ट है। परंतु यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (जैसा कि वर्तमान कांग्रेस (इ) के नेता भी करते हैं) छद्म पंथनिरपेक्षता की अपनी नीति के तहत हिंदुओं की भावनाओं का विरोध करती आई है।

पंडित ठाकुर दास भार्गव ने कहा, "श्रीमान उपाध्यक्ष जी, इस संशोधन के विषय में मुझे यही कहना है कि अन्य संशोधनों के अनुरूप यह प्रावधान भी डॉ. अंबेडकर के कथनानुसार उनकी कल्पना की उपज है- इस प्रावधान को प्रस्तावित करते हुए मुझे यह कहने में बिलकुल भी संकोच नहीं है कि जो लोग अंबेडकर तथा अन्य लोगों के विचार से सहमत नहीं हैं, उन्हें एक प्रकार का त्याग करने को विवश किया जा रहा है। मेरे विचार से यह उपयुक्त होता कि इस प्रावधान को मूलभूत अधिकारों में स्थान दिया जाता परंतु संविधान सभा के कुछ सदस्य इससे सहमत नहीं थे और अंबेडकर जी का भी यह मत था कि इस विषय को निदेशक तत्वों में ही रखा जाए।"

अखिल भारतीय कांग्रेस की आपत्तियाँ लोढ़ा कमेटी की रिपोर्ट की प्रस्तावना के 41वें पैराग्राफ में बिलकुल स्पष्ट अंकित हैं। 1941 में कांग्रेस द्वारा गठित एक समिति ने स्पष्ट मत व्यक्त किया था कि गायों और गो-वंश वध पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया जाना चाहिए। परंतु कांग्रेस की एक अन्य समिति का मत था कि ताजा मारी गई गायों और गोवंश की खालों का व्यापार और निर्यात विदेशी मुद्रा कमाने के लिए किया जाना चाहिए। उसने गोवध पर प्रतिबंध के विरुद्ध मत व्यक्त किया।

इन दुर्भाग्यपूर्ण अनुशंसाओं तथा चमड़ा व्यापारियों के दबाव के परिणामस्वरूप, 1950 में भारत सरकार का आदेश आया कि सामान्य रूप से मृत गाय की अपेक्षा मारी गई गाय और गोवंश की ताजा चमड़ी अधिक मूल्य पर बिकती है। इस प्रकार राज्य सरकारों के अधिकारियों को परामर्श दिया गया था कि वे गोवध पर पूर्ण पतिबंध न लगाएँ।"

यहाँ तक कि कांग्रेस (इ) के नेता जयराम रमेश ने 16.06. 2017 को इकॉनोमिक टाइम्स को दिए गए इंटरव्यू में कहा था, "मैं

शाकाहारी हूँ और 2009 में पर्यावरण मंत्री रहते हुए मैंने कहा था कि मिथेन गैस के उत्सर्जन को कम करने के लिए जो सबसे बढ़िया काम आप कर सकते हैं, वह है गोमांस भक्षण पर रोक लगाना।"

"परंतु, मैं बल प्रयोग पर विश्वास नहीं करता। यह जीवनशैली के चुनाव पर निर्भर है। यदि लोग गोमांस खाना चाहते. हैं, उन्हें इसका अधिकार होना चाहिए। लोग अपने निजी जीवन में क्या करते हैं, इसे सरकार द्वारा आदेशित नहीं किया जाना चाहिए। निश्चय ही जब नौकरियों का अकाल पड़ा है, हमारे पास चर्चा के अन्य बहुत से महत्वपूर्ण विषय हैं। जब अर्थव्यवस्था मंदी के दौर में हो, उस समय गोमांस पर चर्चा करना अजीब बात है। यह सब समाज के ध्रुवीकरण का प्रायोजित अभियान है। यह सत्ताधारी पक्ष को रास आता है।"

गोरक्षा अभियान तथा संघ और विश्व हिंदू परिषद् की भूमिका:

पहले आम चुनावों के पश्चात् राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने 9-10 सितंबर 1952 में गोवध एवं गोवंश पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने हेतु एक हस्ताक्षर अभियान चलाने का निर्णय लिया। अभियान 26.10.1952 को प्रारंभ हुआ और एक माह तक चलता रहा। इस अभियान के अंतर्गत 50,000 स्थानों पर सभाएँ हुई और भारत के 1,75,73,226 नागरिकों ने गोवध पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने के प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किए। इनमें 3,22,969 मुसलमान, 60,659 ईसाई भी थे। ये सभी हस्ताक्षर 08. 12.1952 को भारत के राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी को सौंप दिए गए।

दु:ख की बात है कि भारत सरकार ने, गोवध पर कानूनी प्रतिबंध लगाने की माँग को स्वीकार नहीं किया।

विश्व हिंदू परिषद का जन्म 29.08.1964 को हुआ। विश्व हिंदू परिषद का पहला विश्व सम्मेलन, जनवरी 1966 में हुआ। सम्मेलन में भारत सरकार से गोवध और गोवंश की हत्या पर प्रतिबंध लगाने की माँग की गई। गोपाष्टमी का त्योहार 7.11.1966 को पड़ रहा था। यह दिन गो-रक्षा दिवस के रूप में मनाया जाता है। यह आंदोलन 'गो-रक्षा महाभियान समिति' के नेतृत्व में प्रारंभ हुआ।

इस समिति के नेतृत्व में 7 नवंबर 1966 को संसद भवन के सम्मुख विशाल जुलूस निकाला गया। इस जुलूस का नेतृत्व करपात्री जी महाराज, जगन्नाथ पुरी, ज्योतिष पीठ और द्वारिका के शंकराचार्य ने किया। वल्लभ संप्रदाय के पीठाधीश रामानुज संप्रदाय, मध्वाचार्य संप्रदाय, रामानंदाचार्य संप्रदाय, आर्य समाज, नाथ संप्रदाय, जैन, बौद्ध, सिख और निहंग भी इसका नेतृत्व कर रहे थे। इन सभी धर्मो के अध्यक्ष अपने छत्र और आसन के बिना पैदल ही संसद् भवन तक गए। इसमें भाग लेने वालों में सभी वर्गों के हिंदू तथा साधु महात्मा थे।

इंदिरा गांधी सरकार ने इन शांतिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे लोगों पर अंधाधुंध गोलियाँ बरसाई। एक आकलन के अनुसार लगभग 5000 लोग गोलियों के शिकार होने और कुचले जाने से मारे गए। इंदिरा गांधी ने इसका दोष गृहमंत्री गुलजारी लाल नंदा पर लगा दिया और उन्हें अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। 20.11.1966 को पूज्य शंकराचार्य श्री निरंजन देव तीर्थ और पूज्य प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने गोवध पर प्रतिबंध लगाने के लिए आमरण अनशन प्रारंभ किया। 2.12.1966 को उन्हें कारावास में डाल दिया गया। जैन मुनि सुशील कुमार जी ने भी ऐसा ही अनशन प्रारंभ किया। उसके परिणामस्वरूप गोवध पर प्रतिबंध लगाने की माँग के पक्ष में व्यापक चेतना का प्रसार हुआ। श्री गोलवलकर एवं संघ के अन्य नेताओं ने साधु-महात्माओं को अनशन त्यागने का अनुरोध किया क्योंकि गोवध-प्रतिबंध विषयक चेतना के प्रसार का लक्ष्य पूरा हो गया था। गृह मंत्री श्री करपात्री जी महाराज से मिले और आश्वासन दिया कि संसद के आगामी सत्र में उनकी इच्छा के अनुसार गोवध प्रतिबंध का कानून लाया जाएगा और अनशन करने वाले संत प्रभुदत्त ब्रह्मचारी तथा अन्य संतों की जीवनरक्षा का आग्रह भी किया। प्रभुदत्त ब्रहाचारी ने 30. 01.1967 तथा पूज्य शंकराचार्य जी ने 31. 01.1967 को अपना आमरण अनशन तोड़ा।

इस आंदोलन को गोसेवा महाभियान समिति के नेतृत्व में पुन: प्रारंभ किया जिसमें इस लक्ष्य से प्रतिबद्ध सारी संस्थाएँ और व्यक्ति जुड़े हुए थे। विहिप ने इस कार्य को विस्तार देते हुए गौरक्षा के साथ गोपालन और गोवंश संवर्द्धन का कार्य भी जोड़ दिया। समिति ने अपना कार्य जारी रखा तथा गोशालाओं में, पंच गव्य, अर्थात दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र संबंधी परियोजनाओं पर काम करने को प्रोत्साहित किया।

21.01.1996 को बजरंग दल के कार्यकर्ताओं ने संपूर्ण देश में गोरक्षा के कार्य में सक्रिय भागीदारी करने का निर्णय लिया और गोवध के लिए गैर कानूनी ढ़ंग से किए जाने वाले गोधन को स्थान-स्थान पर रोकने का कार्य हाथ में लिया।

विहिप ने मोदी सरकार से और 450 सांसदों से व्यक्तिगत रूप से माँग की जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय कामधेनु आयोग का गठन किया गया, जो उच्च अधिकार प्राप्त परामर्श आयोग था और जिसे केंद्रीय सरकार को गोरक्षा हेतु उपयुक्त कदम उठाने, उसके संधारणीय विकास को सुनिश्चित करने और गोवंश के नस्ल सुधार विषयक परामर्श देने का अधिकार दिया गया।

विहिप ने सरकार पर इस बात के लिए भी जोर दिया कि पशुपालन और दुग्ध उत्पादन विभागों को कृषि विभाग से अलग कर दिया जाए जिससे इन पर उपयुक्त ध्यान दिया जा सके। सरकार ने इस माँग को भी स्वीकार कर लिया तथा पशुपालन, दुग्ध-उत्पादन और मत्स्य पालन के लिए एक अलग विभाग बना दिया गया है।

"यह संतोषजनक बात है कि गाय के दूध और उससे बने उत्पादों की माँग बढ़ती जा रही है। लोग, गाय के दूध की माँग करते हुए यह भी पूछते हैं कि दूध देसी गाय का है अथवा नहीं। औषधियाँ, खाद, कीटनाशक, गोबर गैस, गोबर के उपले जो हवन में प्रयुक्त होते हैं तथा ऐसे अन्य पदार्थ लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

यह भी संतोष का विषय है कि गोरक्षा विषयक कानून विभिन्न प्रदेशों में बनाए जा चुके हैं। केवल केरल, उत्तर-पूर्व के राज्यों जैसे अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, नागालैंड, सिक्किम, त्रिपुरा, मणिपुर और मिजोरम ही शेष हैं। परंतु उत्तर-पूर्व के सबसे बड़े राज्य असम में गोवध प्रतिबंध के कानून पर तेजी से काम हो रहा है।

हम ऐसे समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं जबकि पूरे देश में गोवध पर प्रतिबंध लगा दिया जाएगा तथा करुणामयी गाय अपने पंचगव्यों के साथ स्वास्थ्य, शक्ति और संपन्नता का वरदान भारतमाता की संतानों को देगी।

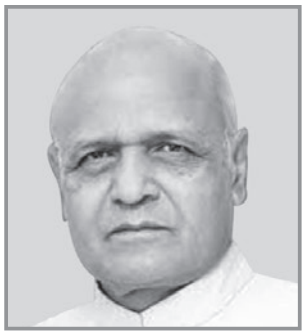

प्रो. भगवती प्रकाश

धरोहरों के संरक्षण का संवैधानिक अधिदेश

किसी सभ्यता के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपनी धरोहरों को भावी पीढ़ियों के लिए सहेज कर रखे। संवैधानिक प्रावधानों के आलोक में हमारी सांस्कृतिक धरोहरों का एक निदर्शन

भारत समृद्ध ऐतिहासिक, सभ्यतात्मक और सांस्कृतिक धरोहर से संपन्न एक प्राचीन सभ्यता है। यह समृद्धि पुरातात्विक स्थलों, स्मारकों, भूदृश्यों, कलाकृतियों, और ऐतिहासिक मूल्य की अनुश्रुतियों में दिखाई देती है, जिनमें इसका प्राचीन इतिहास, सभ्यतात्मक पुरावशेष, भाषाएँ, लिपियाँ संगीत, पर्व-त्योहार, नानारूप नृत्य, सामाजिक प्रथाएँ, रीति-रिवाज, कलाएँ, कलाकृतियाँ, धर्मग्रंथ, पुरालेख, पांडुलिपियाँ और उन्नत प्राचीन ज्ञान निहित हैं।[1]

राष्ट्रीय धरोहर और राज्य तथा नागरिकों के कर्तव्य

भारतीय संविधान में राज्य के नीति निदेशक तत्वों के तहत राष्ट्र की धरोहर के संरक्षण के लिए राज्यों के निश्चित दायित्व का स्पष्टत: निर्धारण किया गया है। राज्यों के नीति निदेशक तत्वों के अनुच्छेद 49 के अनुसार, "राष्ट्रीय महत्व के, कला या ऐतिहासिक हित के प्रत्येक स्मारक अथवा स्थल या वस्तु की क्षति, विरूपण, विध्वंस, स्थान परिवर्तन या अपनयन, विक्रय या निर्यात, जैसी भी स्थिति हो, से सुरक्षा करना राज्यों का दायित्व होगा, (संसद के द्वारा अथवा उसके द्वारा निर्मित कानून के तहत घोषित)।"[2] इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 51 ए (एफ) इस दायित्व की सीमा को और विस्तार देते हुए प्रत्येक नागरिक को धरोहर के संरक्षण में सहयोग करने का निर्देश देता है। इसमें उल्लेख है कि "हमारी साझा संस्कृति की समृद्ध धरोहर का सम्मान व संरक्षण करना; और 51 ए (जी) के तहत वनों, तालों, नदियों व वन्य जीव-जंतुओं समेत प्राकृतिक पर्यावरण का संरक्षण और सुधार करना तथा सजीव प्राणियों के प्रति करुणा का भाव रखना भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा।"[3] राज्य के नीति निदेशक तत्व आयरलैंड के संविधान से लिए गए प्रतीत होते हैं।[4] आयरलैंड ने उन्हें स्पेन के संविधान से ग्रहण किया था।[5] सन् 1945 की सप्रू समिति की अनुशंसाएँ इन निदेशक तत्वों का प्रत्यक्ष स्रोत हैं, जिसमें व्यक्तिगत अधिकारों की दो श्रेणियों का सुझाव दिया गया : वादयोग्य और वादेतर अधिकार।[6] वादयोग्य अधिकार, जैसा कि हम जानते हैं, मौलिक अधिकार हैं, जबकि वादेतर अधिकार संविधान में समाविष्ट राज्य के नीति निदेशक तत्व हैं।[7]

निदेशक तत्व

राज्य के नीति निदेशक तत्व (डीपीएसपी) वे आदर्श हैं, जिन्हें नीतियों का निर्धारण करते और कानून बनाते समय राज्यों को ध्यान में रखना चाहिए। वे 'निदेशों का एक लेखपत्र' हैं, और भारत सरकार के सन् 1935 के अधिनियम में उन्हें भी शामिल किया गया था। राज्य के नीति निदेशक तत्वों के कई उद्देश्य हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. इनका उद्देश्य देश में आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र बहाल करना है।
2. ये आदर्श हैं, किंतु इनके उल्लंघन की स्थिति में कानूनी तौर पर न्यायालयों के द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं।
3. ये सरकार के लिए निदेशक तत्व हैं और नागरिकों के कल्याण के सिद्धांत पर आधारित हैं।
4. ये ग्रामीण स्वशासन के सिद्धांत हैं, जिनमें से ज्यादातर राज-धर्म के प्राचीन हिंदू धर्मग्रंथों से लिए गए हैं।
5. ये शासन के उदार और बौद्धिक सिद्धांत हैं।

सप्रू समिति की रिपोर्ट में निदेशक तत्वों का स्रोत

सप्रू समिति की रिपोर्ट, जिसमें निदेशक तत्वों का उल्लेख वादेतर अधिकार के रूप में किया गया है, का प्रकाशन सन् 1945 में हुआ और इसे अल्पसंख्यकों के उन मुद्दों के समाधान के लिए जारी किया गया, जिन्होंने भारत के राजनीतिक और संवैधानिक संवाद को अवरुद्ध कर रखा था।[8] इसे नवंबर, 1944 में गैर-दलीय सभा द्वारा बहाल एक समिति ने तैयार किया था। इस समूह में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, मुस्लिम लीग और कम्युनिस्ट पार्टी जैसी प्रभावी राजनीतिक पार्टियों को छोड़ कर विभिन्न हितों के प्रतिनिधि शामिल थे।

सप्रू समिति और उसकी पृष्ठभूमि

सन् 1940 के दशक के पूर्वार्ध में, भारत के संविधान के भविष्य को लेकर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच गतिरोध व भारतीय मुसलमानों के कुछ खास तबकों की अलग होने की माँग से उपजे सांप्रदायिक संघर्ष के चलते राजनीतिक परिदृश्य दूषित हो गया था। सन् 1944 की गांधी-जिन्ना वार्ता बेनतीजा रही इसलिए, सांप्रदायिक तनावों और समस्या को दूर करने के ध्येय से इस गैर-दलीय सभा ने तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक 30 सदस्यीय समिति का गठन किया। अन्य समस्याओं के बीच समिति को भविष्य के एक संवैधानिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से समस्त सांप्रदायिक और अल्पसंख्यक समस्या की जाँच का जिम्मा सौंपा गया। इसकी 343 पृष्ठों की रिपोर्ट में भारत के संवैधानिक भविष्य के विभिन्न पहलुओं का एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया था। रिपोर्ट ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को खारिज कर दिया था। समिति का मानना था कि एक भिन्न मुस्लिम राज्य किसी भी समुदाय के लिए लाभदायक नहीं होगा और उसे महसूस हुआ कि भारत के विभाजन से 'शांति, अक्षोभ और समस्त देश की प्रगति को खतरा' पैदा होगा। इसने एक संविधान निर्माता समिति के गठन की माँग की, जिसमें मुसलमानों को शामिल करने की अनुशंसा भी की गई।

रिपोर्ट के एक खंड में मौलिक अधिकारों का समावेश था जैसे: अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता और समानता। विवरणात्मक खंडों में समिति ने अधिकारों का विवादयोग्य और विवादेतर वर्गों में विभाजन करने पर बल दिया। यह रिपोर्ट संविधान सभा के गठन की एक प्रस्तावना थी और संविधान-निर्माण प्रक्रिया पर इसका एक प्रत्यक्ष प्रभाव था क्योंकि सप्रू समिति के आठ सदस्यों को संविधान सभा का सदस्य भी बनाया गया था। इनमें शामिल थे : एम. आर. जयकर, गोपालस्वामी अय्यंगर, जॉन मथाई, फ्रैंक एंटनी और सच्चिदानंद सिन्हा - जो संविधान सभा के पहले (अनंतिम) अध्यक्ष बने।

किंतु संविधान सभा ने देश के विभाजन के समय की अल्पसंख्यकों की कुछ विरासत को अपनाए रखा, किंतु संविधान को अल्पसंख्यकवाद से कतई ग्रस्त नहीं रखा जाना चाहिए था। ऊपर वर्णित चर्चाओं और अनुच्छेद 49 व 51 (एफ) के तहत अधिदेश के आलोक में देश की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासत को अल्पसंख्यकवाद की पीड़ा और छद्म धर्मनिरपेक्षतावादी अधिप्रचार से मुक्त रखा जाना चाहिए।

न्यायिक निदेश

विभिन्न अवसरों पर विभिन्न मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने भी देश की समृद्ध धरोहर और संस्कृति के संरक्षण पर बल दिया है। 3 फरवरी, 2015 को न्यायमूर्ति टी. एस. ठाकुर और न्यायमूर्ति आदर्श कुमार गोयल की सर्वोच्च न्यायालय की एक पीठ ने इस पर दृढ़तापूर्वक बल दिया कि देश की समृद्ध धरोहर और संस्कृति का संरक्षण एक संवैधानिक जनादेश है। संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत एक जनहित वाद के रूप में सुभाष दत्ता द्वारा दायर एक रिट याचिका की सुनवाई करते हुए, सर्वोच्च न्यायालय ने संग्रहालयों का संचालन व रखरखाव कर रही संबद्ध संस्थाओं के प्रति याचिकाकर्ता के निवेदनों पर गंभीरता से विचार किया, और इस आशय से निर्णय दिया कि ऐतिहासिक कलाकृतियों की सुरक्षा और रखरखाव के लिए तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त लोगों को गंभीर और अनवरत प्रयास करने चाहिए। न्यायालय ने इस संबंध में प्रस्तुत की गई चुनौतियों पर भी विचार किया, जैसे स्थान की बाध्यताएँ, जनशक्ति की कमी और अन्य संसाधनों का अभाव, जिन पर संस्कृति मंत्रालय व अन्य संबद्ध प्राधिकारों को ध्यान देना चाहिए, और उपयुक्त निगरानी तंत्र भी, जिसका गठन किया जाना चाहिए था। न्यायालय ने इस तथ्य का भी उल्लेख किया कि इस कार्य के लिए आवश्यक धन का आवंटन किया जाना चाहिए। यह याचिका देश के अलग-अलग स्थलों पर परिरक्षित ऐतिहासिक वस्तुओं के संरक्षण के मुद्दे पर वर्ष 2004 में दायर की गई थी।[9]

विभिन्न अवसरों पर विभिन्न मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने भी देश की समृद्ध धरोहर और संस्कृति के संरक्षण पर बल दिया है। 3 फरवरी, 2015 को न्यायमूर्ति टी. एस. ठाकुर और न्यायमूर्ति आदर्श कुमार गोयल की सर्वोच्च न्यायालय की एक पीठ ने इस पर दृढ़तापूर्वक बल दिया कि देश की समृद्ध धरोहर और संस्कृति का संरक्षण एक संवैधानिक जनादेश है

स्मारकों का इतिहास और संस्कृति

अनुच्छेद 49 के तहत जिन ऐतिहासिक स्मारकों के संरक्षण का अधिदेश जारी किया गया है, उनका एक ऐतिहासिक अतीत रहा है, जिसमें राष्ट्रीय या यहाँ तक कि वैश्विक महत्व के भी विशिष्ट सांस्कृतिक और सभ्यतात्मक पुरावशेष शामिल हैं। उदाहरणस्वरूप, ''हंपी, विश्व धरोहर क्षेत्र प्रबंधन प्राधिकरण अधिनियम 2002'' द्वारा संरक्षित हंपी रामायण युगीन धरोहर का प्रतिनिधान करती है, जिसके अयोध्या की राम जन्मभूमि, तमिलनाडु के रामसेतु और रामेश्वरम तथा चित्रकूट समेत रामायण में वर्णित कई अन्य स्थलों से स्पष्ट और ठोस ऐतिहासिक व सांस्कृतिक संबंध हैं। महाकाव्य रामायण के विवरण भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। वाल्मीकि रामायण में 4 दाँतों वाले हाथी[10] का उल्लेख इस मान्यता की पुष्टि करता है कि त्रेता युग में आया रामायण काल, लगभग एक करोड़ वर्ष (ठीक 8,69,124 वर्ष) पूर्व तक अस्तित्व में रहा। पुरातत्वविदों के अनुसार यह 4 दाँतों वाला हाथी एक करोड़ वर्ष पूर्व विलुप्त हो गया था। इसी प्रकार रेडियो कार्बन काल-निर्धारण के अनुसार समुद्र के अंदर प्राप्त प्राचीन द्वारिका के पुरातात्विक अवशेषों की धरोहर भी पाँच सहस्राब्दों पूर्व की है और द्वारिका के महाभारत युगीन पुरावशेष के संबंध मथुरा, कुरुक्षेत्र, दनकोर, गुरुग्राम, जगन्नाथपुरी आदि समेत महाभारत के सैकड़ों स्थलों से हैं। इसलिए भौतिक संरचना के साथ-साथ उनके ऐतिहासिक वृत्तांत और उनके महाकाव्यीय विवरणों में वर्णित ऐतिहासिक व सांस्कृतिक अनुश्रुतियों को पुनर्जीवित करना भी उतना ही आवश्यक है। ऐसे हजारों स्थल और उनकी महाकाव्यीय अनुश्रुतियाँ हैं, जिनका पुनरुज्जीवन और परिरक्षण, प्रलेखन आवश्यक है और शिक्षा संस्थानों में इन स्मारकों के साथ-साथ इनकी शिक्षा भी दी जानी चाहिए। संविधान में एक स्पष्ट अधिदेश है कि इस धरोहर और ऐतिहासिक स्मारकों व धर्मग्रंथों में उनके विवरण का परिरक्षण किया जाना चाहिए और छद्म धर्मनिरपेक्षतावाद के नाम पर इसकी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए।

संदर्भ

1. सिटी हेरिटेज एंड फ्लॉड स्ट्रटीजीज । ओआरएफ www.orfoniline .orghttp://www.orfonline.org/expert -speak/city - heritage -and-flawed-strategies/
2. नेशनल पोर्टल ऑफ इंडिया (भारत का राष्ट्रीय पोर्टल) अनुच्छेद 41, भारत का संविधान, https://www.india.gov.in/my-government/constitution-india
3. नेशनल पोर्टल ऑफ इंडिया (भारत का राष्ट्रीय पोर्टल) अनुच्छेद 51 ए, भारत का संविधान, https://www.india.gov.in/my-government/constitution-india
4. राज्य के नीति निदेशक तत्व, भारत का संविधान https://blog.ipleaders.in/directive-principles-of-state-policy-dpsp-under-the-indian-constitution
5. वही 4
6. भारत का संविधान https://www.constitutionofindia.net/historical_constitutions/sapru_committee_report_sir_tej_bahadur_sapru_1945_1st%20December%201945
7. वही 4
8. वही 6
9. समृद्ध धरोहर और संस्कृति का परिरक्षण एक संवैधानिक अधिदेश है, ...के अनुसार https://tilamarg.com/news/preservation-of-rich-hiritage-and-culture-is-a-constitutional-mandate-says-supreme-court/
10. वाल्मीकि रामायण, सुंदर कांड -4.27.12; 5.4.26; 5.9, 5-4

डॉ. विश्वेश वाग्मी

सनातन सिद्धांतों के आलोक में नीति निदेशक तत्व : एक अनुशीलन

हमारे संविधान का ध्यानबिंदु तो लोक कल्याण ही है, लेकिन स्वाधीनता के सात दशक बीत जाने के बावजूद यह अपने लक्ष्य से अभी कोसों दूर है। कहीं इसका कारण हमारी अपनी सांस्कृतिक जड़ों से इसका विचलन तो नहीं है? एक विश्लेषण

भारतीय संविधान के भाग-4 में समाविष्ट राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों को संविधान निर्माताओं ने शासन का मूल आधार माना है तथा विधि-निर्माण में इनको लागू करना राज्य का कर्त्तव्य है। संविधान सभा में इन निदेशक तत्त्वों के संबंध में अपने विचार रखते हुए डॉ. भीमराव अंबेडकर ने कहा था कि- इस भाग में अधिनियमित तत्त्वों के प्रति विधायिका एवं कार्यपालिका भविष्य में केवल मौखिक सहानुभूति न जताएँ, अपितु इन्हें कार्यपालिका तथा विधायिका के उन सभी कार्यों का आधार बना दिया जाए जो इसके बाद देश के शासन में प्रयोग में आएँ। नीति-निदेशक तत्व भारतीय संविधान का वह महत्वपूर्ण भाग है जिसके माध्यम से संविधान कल्याणकारी राज्य के आदर्श को प्राप्त करना चाहता है। ऐसा राज्य जो सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक असमानताओं से मुक्त न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्माण करने में सक्षम हो। किन्तु संविधान लागू होने के 70 वर्षों के पश्चात् भी संविधान निर्माताओं द्वारा अभीष्ट लोककल्याणकारी राज्य का वह लक्ष्य आज भी कोसों दूर दिखाई देता है। इसके महत्वपूर्ण कारणों में से एक कारण यह भी जान पड़ता है कि इन नीति-निदेशक तत्त्वों को संविधान में समाविष्ट करते समय पाश्चात्य राजनैतिक व्यवस्थाओं से प्रभावित संविधान निर्माताओं द्वारा भारतीय जीवन के आदर्शों, संस्कारों एवं समस्याओं की जाने-अनजाने में उपेक्षा हुई।

नीति-निदेशक सिद्धांतों को आयरलैंड के संविधान से लिया गया है। आयरलैंड ने भी स्वयं इन सिद्धांतों को स्पेन के संविधान से ग्रहण किया है और अधिक सूक्ष्मता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि निदेशक तत्त्वों का मूल विचार और दर्शन फ्रांस के मानवाधिकार, अमेरिकी स्वतंत्रता की उद्घोषणा तथा 19वीं सदी के उदारवादी और समाजवादी दर्शनों में अंतर्निहित है। यह बड़ी विडंबना का विषय है कि जिस राष्ट्र का विशाल वाङ्मय नीति-निदेशक सिद्धांतों से परिपूर्ण हो; जिसके पास नीतिशास्त्रों की सबसे प्राचीन और विशाल धरोहर हो, जिसके पास लोक कल्याणकारी आदर्शों की वैज्ञानिक और अंतहीन सनातन परंपरा विद्यमान हो; उसे हजारों वर्षों की दासता से मुक्त होने के पश्चात् जब अपना सर्वोच्च विधान बनाने का सुअवसर प्राप्त हुआ तब क्या उसे अपनी सनातन परंपरा से एक भी ऐसा सिद्धांत, एक भी ऐसा आदर्श नहीं मिला जिसको वह संविधान के नीति-निदेशक तत्त्वों में समाहित कर सके! इतना ही नहीं स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी हमारी विश्लेषणात्मक बुद्धि इन निदेशक तत्त्वों को भारतीय सनातन परंपरा के आलोक में देखने का प्रयास नहीं कर सकी।

एकात्म मानव दर्शन के प्रस्तोता एवं भारतीय ज्ञान परंपरा के संपोषक पं. दीनदयाल उपाध्याय तत्कालीन नीति नियंताओं को इस विषय में लगातार सचेत करते रहे। उन्होंने आजीवन अपने भाषणों, लेखों और प्रस्तावों के माध्यम से हमेशा ही इस बात का प्रयास किया कि विधानों का निर्माण करते समय भारत की आत्मा को अवश्य अक्षुण्ण रखना चाहिए। भारत के 'स्व' का साक्षात्कार ही भारतीय समस्याओं का समाधान कर सकता है। पश्चिम के सिद्धांत चाहे कितने ही वैज्ञानिक क्यों न हों; वे भारतीय जीवन के

आदर्शों, समस्याओं, देश और काल की विभिन्न परिस्थितियों के कारण हमारे राष्ट्र के लिए पूर्णतः उपयुक्त नहीं हो सकते। भारतीय समस्याओं का आत्यंतिक समाधान भारतीय सिद्धांतों से ही संभव है।

आज भारत का जनमानस पं. दीनदयाल उपाध्याय के इन विचारों की सत्यता का साक्षात् अनुभव कर रहा है। भारतीय बौद्धिक जगत् में भी पाश्चात्य सिद्धांतों की विफलताओं और सनातन सिद्धांतों के प्रति विश्वास दृढ़तर हो रहा है। अतः आज हम सभी का कर्तव्य है कि हम देश की समसामयिक आवश्यकताओं के प्रति अनुकूलता स्थापित करने में सक्षम सनातन सिद्धांतों को प्रत्येक क्षेत्र में अपने अध्ययन और अनुसंधान का विषय बनाएँ। अथर्ववेद का ऋषि सनातन शब्द को व्याख्यायित करते हुए कहता है-

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥

अर्थात् जिस प्रकार दिन और रात्रि का चक्र शाश्वत रहता हुआ भी प्रतिदिन नई ऊर्जा, नए उत्साह और नई उमंग को प्रदान करता है, उसी प्रकार सनातन वही है जो नित्य और शाश्वत होते हुए भी युगानुरूप नित नवीन होता है।

प्रस्तुत आलेख में इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में उल्लिखित नीति-निदेशक तत्त्वों के कुछ एक संदर्भों को सनातन भारतीय सिद्धांतों के आलोक में देखने का विनम्र प्रयास किया गया है, जिन पर धर्माधारित समग्र भारतीय सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक चिंतन आश्रित रहा है।

संविधान का अनुच्छेद 38 लोक कल्याणकारी राज्य की संकल्पना को स्पष्ट करते हुए कहता है कि राज्य सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक असमानता को दूर कर एक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करे। सनातन भारतीय शासन प्रणाली का सर्वोच्च लक्ष्य भी लोक कल्याण ही है। वेदों, स्मृतियों, पुराणों, महाकाव्यों एवं नीतिग्रंथों में उल्लिखित राजनीति के सूत्र लोक कल्याण को ही राजा का परम कर्तव्य मानते हैं। राजधर्म को राजा से भी महनीय स्थान प्राप्त है। राजा केवल इस धर्म का रक्षक, परिचालक एवं सेवक माना गया है; जिसका दायित्व धर्म का पालन करना एवं करवाना है। राजधर्म के अनुसार राजा के मुख्यतः तीन कर्तव्य माने गए हैं-1.प्रजा की रक्षा करना 2.समान न्याय एवं धर्म के पालन द्वारा प्रजाजनों में विनय की स्थापना करना तथा 3.प्रजा के भरण-पोषण हेतु राष्ट्र की आर्थिक उन्नति करना। राजधर्म के इन तीन गुणों के कारण ही राजा को सच्चे अर्थों में पिता माना गया है-

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

लोक कल्याण का यह दायित्व राजा को विश्राम की आज्ञा नहीं देता। तभी चक्रवर्ती सम्राट दुष्यंत का कंचुकी- **अविश्रमोऽयं लोकतंत्राधिकारः** की उद्घोषणा के साथ राजा के विश्राम में बाधा उत्पन्न करने का साहस कर पाता है। राजा प्रजा से कर ग्रहण करता है, अतः सूर्य, वायु एवं शेषनाग के समान उसको भी अपने कर्त्तव्यों से विश्रांति का कोई अधिकार नहीं है। लोककल्याण के उत्तरदायित्त्व से वह मुक्त नहीं हो सकता-

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥

संस्कृत का प्रायः प्रत्येक नाटककार अपने भरतवाक्य में प्रजा के कल्याण में ही राजाओं के सतत प्रवृत्त रहने की प्रार्थना करता है-**प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः।** शासक न्याय के मार्ग द्वारा पृथ्वी का पालन करें। प्रजा का कल्याण हो। गौओं और ब्राह्मणों का सर्वदा शुभ हो तथा समस्त लोक सुखी रहें-

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

महाभारत में राजा की नियुक्ति का मुख्य उद्देश्य 'प्रजाहित' और 'प्रजारंजन' बताया गया है-**लोकरंजनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः।** जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने गर्भस्थ शिशु के हित का ध्यान रखने के लिए अपनी मनोऽनुकूल इच्छाओं का त्याग

कर देती है, उसी प्रकार शासक को भी अपने व्यक्तिगत सुख की चिंता न करते हुए प्रजा के हित में संलग्न रहना चाहिए-

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम्।
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ नित्यं धर्मानुसारिणा।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यल्लोकहितं भवेत्।।

भारतीय राजधर्म के सर्वोच्च आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के लिए भी प्रजारंजन ही सर्वोच्च प्राथमिकता है। इसके लिए वे अपने समस्त सुखों, यहाँ तक की प्राणप्रिया जानकी को भी त्यागने में संकोच नहीं करते-

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।

किसी शासक का अपनी प्रजा के प्रति कर्तव्य-भावना का इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है! कलिंग के सम्राट् खारवेल ने ईसा से 165 वर्ष पूर्व ही यह उद्घोषणा की थी कि मैंने अपने राज्य की 25 लाख प्रजा का रंजन किया है। कौटिल्य ने भी प्रजा के सुख में ही शासक का सुख और प्रजा के हित में ही राज्य का हित माना है-

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां तु हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।

कराधान का सनातन दृष्टिकोण भी इन्हीं शाश्वत मूल्यों पर आधारित है। वैदिक संहिताओं से लेकर अर्थशास्त्र, मनुस्मृति आदि शास्त्रों में करारोपण के जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, वैदिक संहिताओं के अनुसार जो राजा प्रजा से न्यायपूर्वक कर लेता है, वही सबका संवर्धन करने में सक्षम है- विशश्चक्रे बलिहृतः। कराधान के संबंध में विदुरनीति का निम्नलिखित सिद्धांत संपूर्ण भारतीय करव्यवस्था का मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है- जैसे भ्रमर फूलों को नुकसान पहुँचाए बिना उनका रस चूसता है, वैसे ही राजा को भी प्रजा से कर के रूप में धन इस तरह से ग्रहण करना चाहिए कि उसे कष्ट न हो-

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदधादविहिंसया।।

इस संबंध में महाकवि कालिदास ने राजा दिलीप के माध्यम से राजधर्म के सनातन आदर्श को उपस्थापित करते हुए कहा है कि- जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों के माध्यम से पृथ्वी से जल को ग्रहण करता है और हजार गुना बढ़ाकर पृथ्वी के कल्याण के लिए वर्षा करता है।

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।।

महाकवि तुलसीदास ने भी कर के संबंध में इसी आदर्श की प्रतिष्ठापना की है। जिस प्रकार सूर्य बिना किसी को बताए जल खींचता है किंतु जब वह उसी जल को वर्षा के रूप में बरसाता है तो सभी लोगों को पता चल जाता है और वे खुशी से झूम उठते हैं। एक राजा को भी इसी रीति से कर संग्रह करना चाहिए - बरषत हरषत लोग सब करषत लखै न कोइ। तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु सो होइ।

महाभारत में कहा गया है- सभी त्यागों का दर्शन राजधर्म में ही होता है, सभी दीक्षाओं का प्रतिपादन राजधर्म में होता है, सभी विद्याओं का योग भी राजधर्म में संभव है और समस्त लोक का आश्रय भी राजधर्म ही है-

सर्वे त्यागाः राजधर्मेषु दृष्टाः, सर्वाः दीक्षाः राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः, सर्वे लोकाः राजधर्मे प्रविष्टाः।।

अनुच्छेद 42 के अनुसार राज्य काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए और प्रसूति सहायता के लिए उपबंध करेगा।

अनुच्छेद 43 राज्य को निर्देशित करता है कि वह सभी प्रकार के कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी एवं अवकाश के उपभोग आदि विषयों के संबंध में प्रयास करेगा।

अर्थशास्त्र में भृत्यों एवं श्रमिकों से संबंधित प्रावधानों के वर्णन प्रसंग में उपर्युक्त अनुच्छेदों के प्रायः सभी विषयों को समाहित किया गया है। अर्थशास्त्र में कार्य करने की न्यायसंगत एवं मानवीय दशाओं की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य माना गया है। कौटिल्य के अनुसार राज्य को अपने आर्थिक सामर्थ्य की सीमाओं के अन्दर आय का एक चौथाई भाग वेतन पर व्यय करना चाहिए। अर्थशास्त्र में ऋत्विक, आचार्य, मन्त्री, पुरोहित, राजमाता, पटरानी, सैनिक, अभियन्ता, चित्रकार, खिलाड़ी, लेखक, कुशीलव (नट, नर्तक, गायक), चिकित्सक, गोरक्षक, धोबी, नाई, खत्री आदि से लेकर वेदाध्यायी विद्यार्थी तक एक बहुत बड़ी सूची का उल्लेख किया गया है, जिनको उनकी योग्यता के अनुसार वेतन देना राज्य का कर्तव्य है। इतना ही नहीं यदि कार्य करते हुए किसी कर्मचारी की मृत्यु हो जाती है तो उसका वेतन कर्मचारी की पत्नी एवं सन्तानों को देने का प्रावधान कौटिल्य ने किया है। कर्मचारियों के घर पर मृत्यु, बीमारी अथवा सन्तानोत्पत्ति के

अर्थशास्त्र में भृत्यों एवं श्रमिकों से संबंधित प्रावधानों के वर्णन प्रसंग में उपर्युक्त अनुच्छेदों के प्रायः सभी विषयों को समाहित किया गया है। अर्थशास्त्र में कार्य करने की न्यायसंगत एवं मानवीय दशाओं की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य माना गया है। कौटिल्य के अनुसार राज्य को अपने आर्थिक सामर्थ्य की सीमाओं के अन्दर आय का एक चौथाई भाग वेतन पर व्यय करना चाहिए। अर्थशास्त्र में ऋत्विक, आचार्य, मन्त्री, पुरोहित, राजमाता, पटरानी, सैनिक, अभियन्ता, चित्रकार, खिलाड़ी, लेखक, कुशीलव, चिकित्सक, गोरक्षक, धोबी, नाई, खत्री आदि से लेकर वेदाध्यायी विद्यार्थी तक एक बहुत बड़ी सूची का उल्लेख किया गया है

अवसर पर राज्य को आर्थिक सहायता हेतु भी निर्देशित किया गया है। कौटिल्य के अनुसार यदि किसी कारण से राजकोष में कमी आ जाए तो भी राजा का कर्तव्य है कि वह पशु, भूमि अथवा सुवर्णादि के माध्यम से न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था करे।

कौटिल्य कार्य के बीच आवश्यक अवकाश का भी प्रावधान करते हैं। आकस्मिक अवकाश श्रमिक का अधिकार है। स्वामी को उसकी यथोचित व्यवस्था करनी चाहिए। स्वामी यदि एक बार निश्चित हुए वेतन के नियमों का उल्लंघन करता है तो राज्य का कर्तव्य है कि उस पर दंड लगाए। लिंग अथवा जाति के आधार पर वेतन में अंतर की बात कौटिल्य नहीं करते। अनुच्छेद 39 में निर्दिष्ट प्रावधानों में विशेष रूप से पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने तथा समान कार्य के लिए समान वेतन का उल्लेख किया गया है। समान कार्य के लिए नियत वेतन में किसी भी प्रकार का भेदभाव कौटिल्य को भी अभीष्ट नहीं है। स्वामी के द्वारा यदि निर्धारित वेतन देने में किसी भी प्रकार की समस्या उत्पन्न की जाती है तो वह दण्ड का भागी होता है।

अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य, दुर्बल वर्गों के हितों की अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी संरक्षा करेगा।

सनातन शास्त्रों के अनुसार राज्य को विधि द्वारा जो शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उन शक्तियों से पहले वंचित, शोषित और दुर्बल जनता की सुरक्षा सुनिश्चित करना है। महाभारत के अनुसार विधाता ने दुर्बल प्राणियों की रक्षा के लिए ही बल संपन्न राजा की सृष्टि की है। निर्बलों का योगक्षेम राज्य पर ही आश्रित है-

दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रामान्धातरुच्यते।
अबलं तु महद्भूतं यस्मिन् सर्व प्रतिष्ठितम्॥

प्रजा के शोषण और भय से मुक्ति के विषय में कामंदक ने भी अपने नीतिसार में अत्यंत मार्मिक उपदेश दिए हैं। महाभारत और अर्थशास्त्र दोनों में ही अराजक राज्य की घोर निंदा की गई है। ऐसे राज्यों में 'मत्स्य-न्याय' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार शासन और विधि के अभाव में शक्तिशाली लोग निर्बलों को समाप्त कर देते हैं-

अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम्
राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः॥

अनुच्छेद 45- छह वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए देख-रेख एवं शिक्षा देने के उपबंध की बात करता है। यद्यपि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का विश्लेषण करने से यह ज्ञात होता है कि शिक्षा का दायित्त्व केवल राजा का नहीं अपितु संपूर्ण समाज का था। कौटिल्य बालक को न पढ़ाने वाले माता-पिता को ही उसका परम शत्रु मानते हैं-

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा॥

वस्तुतः शिक्षा के विषय में राज्य ज्यादा हस्तक्षेप नहीं करता था वरन् जो आचार्य शिक्षा प्रदान करने का पवित्र कार्य करते थे, राज्य उनके संपूर्ण योगक्षेम का दायित्त्व निर्वहण करता था। कालिदास ने रघुवंश के पंचम सर्ग में रघु एवं कौत्स के प्रकरण द्वारा इस विषय को बड़े सुंदर तरीके से उपस्थापित किया है। यद्यपि विधिवत् शिक्षा उपनयन संस्कार के पश्चात् आरंभ होती थी; किंतु सामान्य विद्याभ्यास चूल-संस्कार (मुंडन संस्कार) के पश्चात् ही आरंभ हो जाता था। प्राचीन शास्त्रों में बालकों के साथ बालिकाओं के भी उपनयन और वेदाध्ययन का विधान था-

पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्ध नमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥

अनुच्छेद 48 के अनुसार राज्य कृषि और पशुपालन को वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने के साथ-साथ विशेष रूप से गायों, बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक पशुओं के संवर्धन तथा वध पर प्रतिबंध लगाने हेतु कदम उठाएगा।

यजुर्वेद में राज्य के चार प्रमुख कर्तव्य बताए गए हैं- 1. कृषि की उन्नति, 2. लोक कल्याण 3. राष्ट्र की आर्थिक वृद्धि और 4. जनता का पोषण- **कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।** अथर्ववेद में राजा वेन के पुत्र राजा पृथी को कृषि के क्षेत्र में अनुसंधान करने वाला बताया है। महाभारत के शांतिपर्व और भागवत पुराण में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है। वेदों में बड़े विस्तार से अनेक प्रकार की मिट्टियों, सिंचाई के साधनों, फसलों, उर्वरकों, कृषिनाशक तत्त्वों तथा कृषि से संबंधित अनेक प्रकार के उपकरणों का उल्लेख प्राप्त होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र का दूसरा और छब्बीसवाँ अध्याय अकृष्य और कृष्य भूमि के प्रबंधन का वर्णन करता है।

कृषि के साथ-साथ पशुपालन और पशुसंवर्धन के विषय में भी वैदिक

कौटिल्य कार्य के बीच आवश्यक अवकाश का भी प्रावधान करते हैं। आकस्मिक अवकाश श्रमिक का अधिकार है। स्वामी को उसकी यथोचित व्यवस्था करनी चाहिए। स्वामी यदि एक बार निश्चित हुए वेतन के नियमों का उल्लंघन करता है तो राज्य का कर्तव्य है कि उस पर दंड लगाए। लिंग अथवा जाति के आधार पर वेतन में अंतर की बात कौटिल्य नहीं करते। अनुच्छेद 39 में निर्दिष्ट प्रावधानों में विशेष रूप से पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने तथा समान कार्य के लिए समान वेतन का उल्लेख किया गया है

संहिताओं से लेकर धर्मशास्त्रों एवं नीतिग्रंथों में अनेक आवश्यक निर्देश प्राप्त होते हैं। वेदों में दुधारू और वाहक पशुओं के वध को रोकने का स्पष्ट आदेश देते हुए कहा गया है कि - एक शफ (खुर) वाले घोड़े, खच्चर, गाय, नीलगाय, ऊँट, भेड़, द्विपाद एवं चतुष्पाद आदि पशुओं को मत मारो। यजुर्वेद में अश्व की हत्या को दंडनीय अपराध माना गया है- **यो अर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमिति वरुणः।** विशेष रूप से सनातन परंपरा में गौ को सर्वाधिक पूज्या माना गया है। गावो विश्वस्य मातरः में विश्वास रखने वाली भारतीय संस्कृति में किसी भी परिस्थिति में गौ के प्रति हिंसा का निर्देश प्राप्त नहीं होता। वेदों में उसे अघ्न्या (अवध्या) बताते हुए सौभाग्य का चिह्न बताया गया है- **अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय।** वेदों में गौ को रुद्रों की माता, वसुओं की बेटी, देवताओं की बहन और अमृत का भंडार कहा गया है। अतः गौ के प्रति किसी भी प्रकार की हिंसा मनुष्य को शोभा नहीं देती-

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय
गामनागामदितिं वधिष्ट॥

महाभारत के अनुशासन पर्व में गाय को स्वर्ग की सीढ़ी और सभी कामनाएँ पूर्ण करने वाली बताया गया है- **गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः।** कौटिल्य की दृष्टि में गोधन का इतना महत्व है कि उन्होंने राजा के लिए यह निर्देश दिया है कि वह सवत्सा गौ और बैल की प्रदक्षिणा करके ही राज-दरबार में प्रवेश करे- **सवत्सां धेनुं वृषभं च प्रदक्षिणीकृत्योपस्थानं गच्छेत्।** कौटिल्य गायों के संरक्षण हेतु **गोरक्ष्य** नामक कर का भी प्रावधान करते हैं। अर्थशास्त्र में पशुविभाग के अध्यक्ष को गोऽध्यक्ष के नाम से संबोधित करते हुए पशुपालन के संबंध में राज्य के कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अर्थशास्त्र के अनुसार गाय को मारने वाला ही नहीं अपितु उसको चुराने वाला भी वध्य है- **स्वयं हन्ता घातयिता हर्ता हारयिता च वध्यः।**

वस्तुतः सेठ गोविंददास के नेतृत्व में संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने गोवध निषेध को मौलिक अधिकारों में शामिल कराने हेतु प्रयास किया था। इस विषय में इतिहास तथा अन्य देशों के उदाहरण भी उन्होंने प्रस्ताव में दिए थे। उनका मानना था कि गोरक्षा का प्रश्न सांस्कृतिक होने के साथ-साथ आर्थिक भी है। किंतु इस विषय को नीति-निदेशक सिद्धांतों में ही स्थान प्राप्त नहीं हो सका।

अनुच्छेद 48 क- राज्य को पर्यावरण संरक्षण-संवर्धन और वन्य जीवों की रक्षा करने हेतु निर्देशित करता है। सनातन भारतीय परंपरा ने आदिकाल से ही पर्यावरण संरक्षण और प्राणिजगत् के साथ प्रकृति के साहचर्य के विषय में अत्यंत व्यवस्थित चिंतन प्रस्तुत किया है। पर्यावरण के प्रति ऐसा वैज्ञानिक दृष्टिकोण विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। वैदिक काल से ही मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने मानव और प्रकृति के अंतसंबंध को पहचान कर उसके संरक्षण एवं संवर्धन की व्यवस्था की है। प्रकृति के प्रत्येक तत्व के साथ मानव का तादात्म्य स्थापित करते हुए वैदिक ऋषि आकाश को पिता तथा पृथ्वी को माता मानता है-**द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्; माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता स उनः पिपर्तु।**

प्रकृति के प्रति आदर की भावना के कारण ही भारतीय परंपरा सृष्टि के उपकारक सभी तत्त्वों को 'देव' पद से संबोधित करती है, **देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा...।** ऋग्वेद के नदी सूक्त से आरंभ हुई नदियों को देवी के रूप में मान्यता देने की परंपरा सनातन संस्कारों में आज भी विद्यमान है। अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त पर्यावरण संरक्षण की सनातन चेतना का अप्रतिम उदाहरण है। वेद का स्पष्ट मंतव्य है कि-जल, औषधि एवं पृथिवी को प्रदूषित नहीं करना चाहिए- **माऽपो मौषधी हिंसीः; पृथिवीं मा हिंसीः।** अनेक औषधीय गुणों से युक्त पेड़ों और पौधों की पूजा भी उनके संरक्षण एवं संवर्धन हेतु जागरूक सनातन जीवन शैली का अभिन्न अंग है। संस्कृत-साहित्य में एक-एक वृक्ष को दस पुत्रों के समान लाभकारी बताया गया है-

दशकूपसमा वापी दशवापी समो ह्रदः।
दशह्रदसमो पुत्रः दश पुत्रसमो द्रुमः॥

रघुवंश महाकाव्य के पञ्चम सर्ग का दृष्टांत अत्यंत महत्वपूर्ण है- रघु का पुत्र अज अपनी सेना के साथ इंदुमती के स्वयंवर में जा रहा था। उसी समय एक जंगली हाथी उसके शिविर में उत्पात मचाने लगता है। जब वह हाथीवानों के द्वारा किसी भी प्रकार से शांत नहीं होता, तब राजकुमार अज जंगली हाथी को न मारने के नियम को जानता हुआ केवल दूर भगाने की इच्छा से धनुष को थोड़ा ही खींचकर बाण छोड़ता है-**तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः।** इस दृष्टांत से स्पष्ट होता है कि राजधर्म की परंपरा में वन्य हाथी अवध्य माने गए हैं। अज ने यह बात अपने पूर्वजों से सीखी थी।

अभिज्ञानशाकुन्तल में भी एक तपस्वी, राजा दुष्यंत को निरीह हिरण पर बाण छोड़ने से रोकते हुए संदेश देता है कि राजा का शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिए ही उठना चाहिए न कि निरपराध प्राणियों पर प्रहार करने के लिए-आर्तत्राणाय वः

महाभारत के अनुशासन पर्व में गाय को स्वर्ग की सीढ़ी और सभी कामनाएँ पूर्ण करने वाली बताया गया है- गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः। कौटिल्य की दृष्टि में गोधन का इतना महत्व है कि उन्होंने राजा के लिए यह निर्देश दिया है कि वह सवत्सा गौ और बैल की प्रदक्षिणा करके ही राज-दरबार में प्रवेश करे- सवत्सां धेनुं वृषभं च प्रदक्षिणीकृत्योपस्थानं गच्छेत्। कौटिल्य गायों के संरक्षण हेतु गोरक्ष्य नामक कर का भी प्रावधान करते हैं। अर्थशास्त्र में पशुविभाग के अध्यक्ष को गोऽध्यक्ष के नाम से संबोधित करते हुए पशुपालन के संबंध में राज्य के कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है

शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि। राजा दुष्यंत भी मृग पर खींचे हुए बाण को तपस्वी की आज्ञा से वापस तुणीर में रख लेते हैं।

इस प्रकार संस्कृत नीतिग्रंथों एवं साहित्य में पर्यावरण तथा वन्य जीवों के प्रति संरक्षण की भावना का विस्तार से वर्णन किया गया है। यजुर्वेद की प्रसिद्ध वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना राजा और प्रजा के साथ-साथ प्रत्येक प्राकृतिक घटक के संरक्षण, संवर्धन और पोषण की कामना करती है। क्योंकि सभी के कल्याण में ही राष्ट्र का योगक्षेम समाहित है-**आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनु र्वोढानड्वान् आशुः सप्तिः पुरंधिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥**

स्थालीपुलाक-न्याय से राजधर्म के सनातन नीति-निदेशक सिद्धांतों के आलोक में संविधान के नीति-निदेशक तत्त्वों के उपर्युक्त अनुशीलन से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि पाश्चात्य सिद्धांतों पर आधारित व्यवस्थाएँ चाहे कितनी भी सशक्त एवं वैज्ञानिक क्यों न हों, वे भारतवर्ष में रहने वाले नागरिकों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं विधिक आवश्यताओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निस्तारण हेतु समान रूप से कारगर नहीं हो सकती। राज्य की मूल भारतीय अवधारणा धर्माश्रित विधान पर आधारित है। वस्तुतः सनातन आदर्शों से सुवासित सिद्धांतों के आधार पर ही विषमतारहित, शोषणमुक्त एवं मानवीय जीवनमूल्यों में निष्ठा रखने वाले कल्याणकारी राज्य का निर्माण संभव है। सनातन सिद्धांतों पर आधारित विधान ही न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुता के संवैधानिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में सक्षम है। अतः समसामयिक परिस्थितियों एवं विश्व के राजनैतिक क्षितिज पर भारतवर्ष की दृढ़ होती भूमिका को देखते हुए आज इस दिशा में खुले मन से विस्तृत अध्ययन, मंथन और अनुसंधान की विशेष आवश्यकता है। भारतीय जीवन शैली एवं संस्कारों को अनिवार्य अंग बनाने की। सनातन संदर्भों के इस संयोजन से निश्चय ही भारत का महान् संविधान और अधिक व्यापक फलक के साथ संपूर्णता की ओर अग्रसर होगा। तभी हम इस राष्ट्र को महानतम बनाने में योगदान देने वाले ऋषियों, मनीषियों और संविधान निर्माताओं के स्वप्नों को वास्तविक रूप में साकार कर सकेंगे।

स्थालीपुलाक-न्याय से राजधर्म के सनातन नीति-निदेशक सिद्धांतों के आलोक में संविधान के नीति-निदेशक तत्त्वों के उपर्युक्त अनुशीलन से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि पाश्चात्य सिद्धांतों पर आधारित व्यवस्थाएँ चाहे कितनी भी सशक्त एवं वैज्ञानिक क्यों न हों, वे भारतवर्ष में रहने वाले नागरिकों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं विधिक आवश्यताओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निस्तारण हेतु समान रूप से कारगर नहीं हो सकती। राज्य की मूल भारतीय अवधारणा धर्माश्रित विधान पर आधारित है। वस्तुतः सनातन आदर्शों से सुवासित सिद्धांतों के आधार पर ही विषमतारहित, शोषणमुक्त एवं मानवीय जीवनमूल्यों में निष्ठा रखने वाले कल्याणकारी राज्य का निर्माण संभव है

सन्दर्भ

1. कश्यप, सुभाष, *हमारा संविधान*, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली : 2017, पृ. 125
2. *अथर्ववेद* 10.8.23
3. *रघुवंश* 1.24
4. *अभिज्ञानशाकुन्तल*, अंक 5
5. *वही* 5.4
6. *वही* 7.35
7. *महाभारत*, शान्तिपर्व 57.11
8. *उत्तररामचरित* 1.12
9. वाजपेयी, अम्बिका प्रसाद, *हिन्दू राज्यशास्त्र*, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयागः 1941, पृष्ठ 122
10. *कौटिलीय अर्थशास्त्र* 1.19
11. *ऋग्वेद* 7.6.5
12. *विदुरनीति* 2.17
13. *रघुवंश* 1.18
14. तुलसीदास, *दोहावली*, 508
15. *महाभारत* शान्तिपर्व 63.29
16. *कौटिलीय अर्थशास्त्र* 3.91.3
17. *कौटिलीय अर्थशास्त्र* 3.69.13-14
18. *महाभारत*, शान्तिपर्व 91.12
19. *कामन्दकीय नीतिसार* 5. 81-89
20. *महाभारत*, शान्तिपर्व 67.12-16
21. *चाणक्यनीति* 2.11
22. *रघुवंश* 3.28-29
23. काणे, वामन पाण्डुरंग, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, प्रथम भाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊः 1992, पृ. 219
24. *यजुर्वेद* 9.22
25. तां पृथी वैन्योऽधोक, तां कृषिं सस्यं चाधोक। *अथर्ववेद* 8.10.11
26. द्विवेदी, कपिलदेव, *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसीः 2018, पृ. 271-273
27. *यजुर्वेद* 13.47-50
28. *यजुर्वेद* 22.5
29. *अथर्ववेद* 7.73.8
30. *ऋग्वेद* 8.101.15
31. *महाभारत*, अनुशासनपर्व 51.33
32. *कौटिलीय अर्थशास्त्र* 14.18
33. *वही*51-51.34
34. *वही* 45.29
35. *ऋग्वेद* 1.164.33; *अथर्ववेद* 12.1.12
36. आचार्य यास्क कृत *निरुक्त* 7.15
37. द्रष्टव्य अर्थचार्टर कमिशन 2000, पेरिस
38. *यजुर्वेद* 6.22; 13.8
39. *रघुवंश*, पञ्चम सर्ग
40. *अभिज्ञानशाकुन्तल*
41. *यजुर्वेद* 22.22

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः .....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : +91-9868550000, 011-23210074

ई–मेल: info@manthandigital.com

प्रभात

नवनूतन प्रकाशन की गौरवशाली परंपरा

दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय (पंद्रह खंडों का सैट)

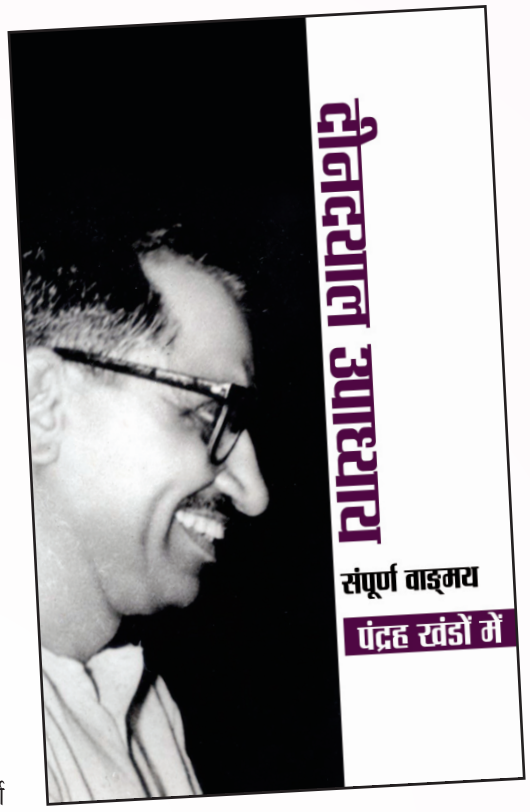

संपादक मंडल

• प्रो. देवेंद्र स्वरूप • श्री रामबहादुर राय • श्री अच्युतानंद मिश्र • श्री जवाहरलाल कौल
• श्री नंदकिशोर त्रिखा • श्री के.एन. गोविंदाचार्य • श्री ब्रजकिशोर शर्मा • डॉ. विनय सहस्रबुद्धे
• श्री अशोक टंडन • डॉ. सीतेश आलोक • श्री आलोक कुमार • श्री बलबीर पुंज
• डॉ. चमनलाल गुप्त • डॉ. भारत दहिया • श्री बनवारी • श्री हितेश शंकर • श्री प्रफुल्ल केतकर
• डॉ. रामप्रकाश शर्मा 'सरस' • श्री अतुल जैन • डॉ. राजीव रंजन गिरि • डॉ. वेद मित्र शुक्ल
• श्री राहुल देव • श्री उमेश उपाध्याय • श्री जगदीश उपासने • श्री सुशील पंडित
• श्री ज्ञानेंद्र बरतरिया • श्री भरत पंड्या • श्री मुज़फ़्फ़र हुसैन • श्री प्रभात कुमार • श्री स्वदेश शर्मा

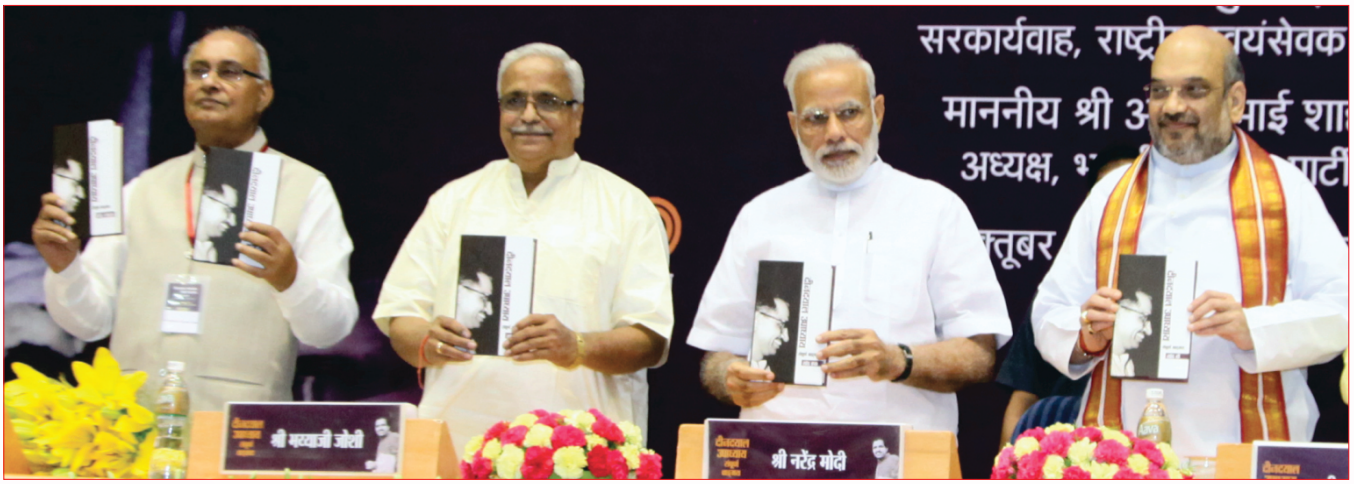

9 अक्तूबर, 2016 को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर डॉ. महेश चंद्र शर्मा द्वारा संपादित एवं प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के पंद्रह खंडों का लोकार्पण भारत के प्रधानमंत्री मान. श्री नरेंद्र मोदी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह मान. श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी व भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष मान. श्री अमित शाह के करकमलों द्वारा संपन्न हुआ।

''यह पंडितजी की जीवन-यात्रा, विचार-यात्रा और संकल्प-यात्रा की त्रिवेणी है। यह दिन इस त्रिवेणी का प्रसाद लेने का दिन है। पं. दीनदयाल उपाध्यायजी कहा करते थे कि अपने सुरक्षाबलों को मजबूत किए बिना कोई राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण नहीं रख सकता, इसलिए सुरक्षा-तंत्र मजबूत होना ही चाहिए। पंडितजी द्वारा कही गई बातें आज भी इतनी ही प्रासंगिक हैं।''

–श्री नरेंद्र मोदी, प्रधानमंत्री, भारत

''विचारों का छोटा सा बीज पं. दीनदयालजी ने बोया था, आज वह वटवृक्ष के रूप में खड़ा होकर न केवल भारत बल्कि पूरे विश्व की समस्याओं को सुलझाने की दिशा में अग्रसर है। उनका साहित्य उनकी सरलता, दूरदर्शिता और संकल्पशक्ति का परिचय कराएगा।''

–श्री अमित शाह, राष्ट्रीय अध्यक्ष, भाजपा

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001:2008 प्रकाशक
4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
हेल्पलाइन नं. 7827007777 ☎ 011-23257555
E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✤ Website : www.prabhatbooks.com

एकात्म मानवदर्शन
अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002
☎ 011-23210074
इ-मेल : ekatmrdfih@gmail.com

Regd. R.No. 32486/78 (Hindi)

भारतीय संविधान पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

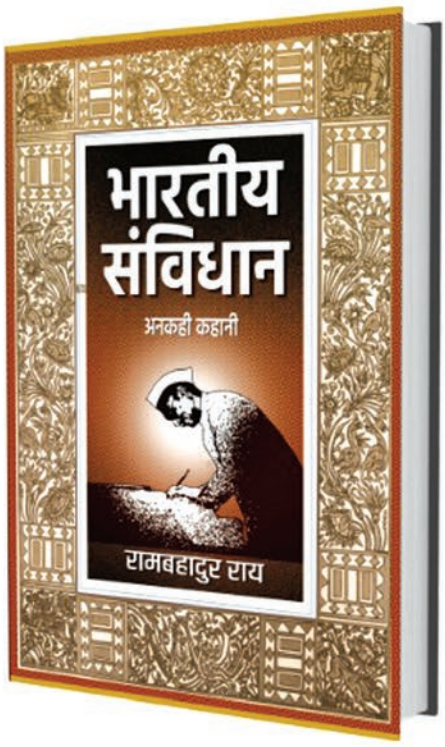

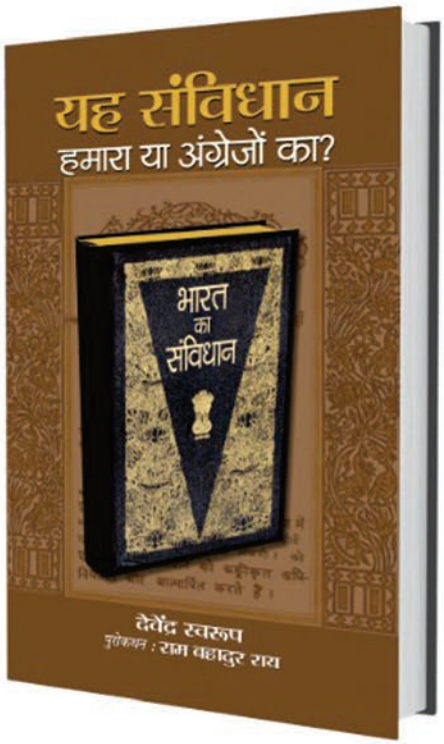

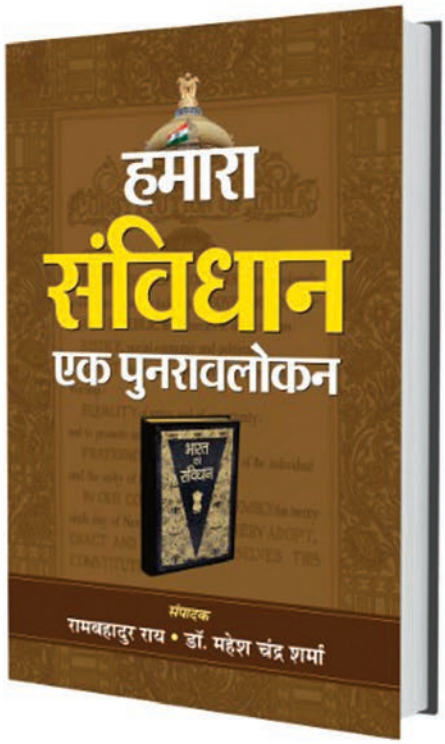

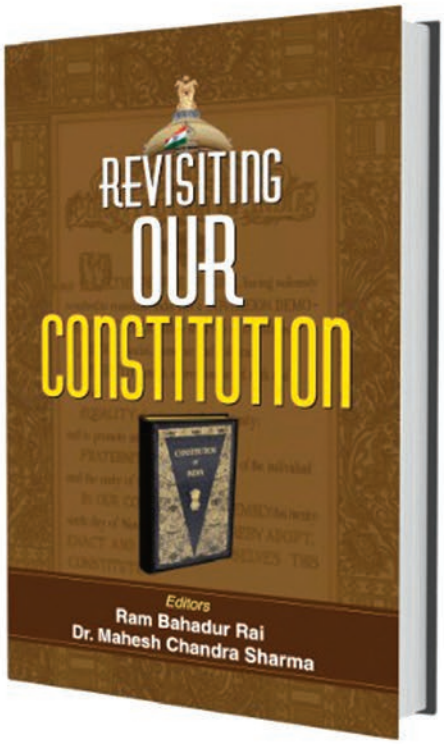

7000 से अधिक पुस्तकों का विस्तृत सूची-पत्र निशुल्क पाने के लिए लिखें—

पोस्टेज फ्री

हेल्पलाइन नं. 7827007777

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2015 प्रकाशक

4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
☎ 011-23289777

E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✣ Website : www.prabhatbooks.com ✣ www.facebook.com/prabhatprakashan